॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

उत्तर प्रदेश राजर्षि टंण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-101
समाज का अध्ययन

खण्ड – एक : उद्‌भव, परिभाषा, प्रकृति एवं अध्ययन क्षेत्र		**03–50**
इकाई–1	समाजशास्त्र का उद्‌भव, परिभाषा, प्रकृति एवं अध्ययन क्षेत्र	07–18
इकाई–2	समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंध एवं अन्तर	19–28
इकाई–3	समाजशास्त्र की संकल्पना एवं विशेषताएं	29–38
इकाई–4	समाज के प्रकार	39–50
खण्ड – दो : समूह और संस्थाए		**51–112**
इकाई–5	सामाजिक समूह की अवधारणाऍ, विशेषताएं एवं प्रकार तथा संदर्भ समूह	55–70
इकाई–6	समिति एवं संस्था की अवधारणाऍ एवं विशेषताए	71–86
इकाई–7	परिवार और उसके प्रकार	87–98
इकाई–8	विवाह एवं नातेदारी : प्रकृति एवं प्रकार	99–112
खण्ड – तीन : समाजीकरण तथा शिक्षा		**113–164**
इकाई–9	सामाजीकरण की अवधारणा एवं प्रकृति	117–132
इकाई–10	समाजीकरण के अभिकरण – प्राथमिक एवं द्वैतीयक	133–144
इकाई–11	अनौपचारिक शिक्षा एवं समाजीकरण	145–156
इकाई–12	औपचारिक शिक्षा और समाजीकरण	157–164
खण्ड – चार : आर्थिक व्यवस्था		**165–214**
इकाई–13	अर्थव्यवस्था की प्रकृति एवं प्रकार	169–180
इकाई–14	कृषि अर्थव्यवस्था	181–192
इकाई–15	औद्योगिक अर्थव्यवस्था	193–206
इकाई–16	उत्तर औद्योगिक सेवा अर्थव्यवस्था	207–214

उत्तर प्रदेश राजर्षि टंण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-101
समाज का अध्ययन

खण्ड – 1

विषय सम्बोध

इकाई – 1	समाजशास्त्र का उद्भव, परिभाषा, प्रकृति एवं अध्ययन क्षेत्र	**07–18**
इकाई – 2	समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंध एवं अन्तर	**19–28**
इकाई – 3	समाजशास्त्र की संकल्पना एवं विशेषताएं	**29–38**
इकाई – 4	समाज के प्रकार	**39–50**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGSY- 101

परामर्श समिति

प्रो० के० एन० सिंह (अध्यक्ष) — **कुलपति,** उ0 प्र0 राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

डॉ० ए० के० गुप्ता — **कुलसचिव,** उ0 प्र0 राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो० के० के० मिश्र — प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग दी0 द0 उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर–273001

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. **डॉ० एम० एन० सिंह** – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
2. **डॉ० इति तिवारी** – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
3. **श्री रमेशचन्द्र यादव** – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

UGSY-101(N) – समाज का अध्ययन

1. **डॉ० संगीता पान्डेय,** विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, दी0 द0 उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
2. **श्री रमेशचन्द्र यादव,** शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
3. **डॉ० इति तिवारी,** पूर्व एसो० प्रोफेसर समाजशास्त्र, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
4. **डॉ० इन्द्रजीत मिश्र,** रीडर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र, भगवान महावीर पी. जी. कालेज, फाजिलनगर कुशीनगर।

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

ISBN- 978–93–83328–38–3

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टंण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने कीअनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष – 2024

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज.

SUSHI-005

खण्ड–1 परिचय विषय सम्बोध

UGSY-01(N) पाठ्यक्रम के इस प्रथम खण्ड में समाजशास्त्र के उद्भव; इसकी परिभाषा; विषय वस्तु तथा अध्ययन क्षेत्र से सम्बन्धित अनेक पहलुओं का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है–

इकाई–1 समाजशास्त्र का उद्भव; परिभाषा, प्रकृति एवं अध्ययन क्षेत्र का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इकाई–2 इस इकाई में समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध तथा उनमें आपसी अन्तर को व्यक्त किया गया है।

इकाई–3 इस इकाई में समाजशास्त्र की संकल्पना तथा विशेषताओं का वर्णन है।

इकाई–4 इस इकाई में समाज और उसके प्रकार अर्थात परम्परागत, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक का विवेचन एवं उसके अन्तर को व्यक्त किया गया है।

इकाई–1

उद्‌भव, परिभाषा, प्रकृति एवं अध्ययन क्षेत्र

<u>इकाई रुपरेखा</u>

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजशास्त्र का उद्‌भव

1.3 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

1.4 समाजशास्त्र की प्रकृति

1.4.1 समाजशास्त्र को विज्ञान मानने में कठिनाइयॉ

1.5 समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र

1.6 सारांश

1.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.8 बोध प्रश्न (परीक्षापयोगी प्रश्न)

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जान सकेंगे–

- समाजशास्त्र का उद्‌भव।
- समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा।
- समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है।
- समाजशास्त्र को विज्ञान मानने में कठिनाई के प्रति विचार।
- समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र विभिन्न सम्प्रदायों के अन्तर्गत।

1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र समाज का समग्रता में अध्ययन करता है। समाजशास्त्र के जनक अगस्त कोंत का विचार था कि समाज के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के लिए विषय है जैसे आर्थिक पहलू के लिए अर्थशास्त्र, राजनैतिक पहलू के लिए राजनीतिशास्त्र आदि। समग्रता के साथ समाज का अध्ययन हो इसके लिए समाजशास्त्र विषय की आवश्यकता अनुभव की गयी। अंततोगत्वा 1838 ई. में समाजशास्त्र विषय का उद्‌भव हुआ। समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है। समाज का निमार्ण 'सामाजिक सम्बन्धों' से होता है अतः

विषय सम्बोध

कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र 'सामाजिक सम्बन्धों' के अध्ययन से सम्बन्धित है। 'सामाजिक सम्बन्धों' का निर्माण— सामाजिक अन्तः क्रियाओं से होता है अतः समाजशास्त्र सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करता है। इस वक्तब्य को निम्न रेखाचित्र से व्यक्त कर सकतें हैं –

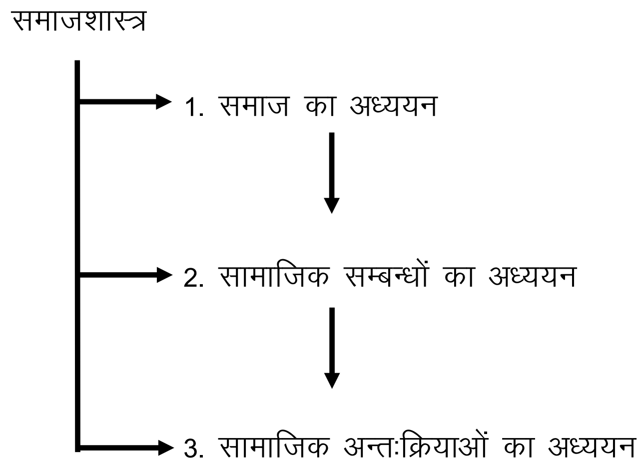

जब सामाजिक अन्तःक्रियाएं व्यवस्थित अथवा प्रतिमानित स्वरूप को धारण कर लेतीं हैं अथवा इनका निश्चित अर्थ निकलने लगता है तो उसं सामाजिक सम्बन्ध कहते है। इस प्रकार निर्मित अनेक सामाजिक सम्बन्धों के जाल को समाज कहा जाता है जिसका अध्ययन समाजशास्त्र में होता है समूह, समुदाय तथा समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की कुछ प्रस्थितियॉ होती है, किसी व्यक्ति की प्रस्थितियों की संख्या के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। प्रदत्त प्रस्थिति (जन्मजात) तो एक बनी रहती है लेकिन अर्जित प्रस्थिति (प्रयत्न) द्वारा बनती बिगड़ती रहती है। व्यक्ति के व्यवहार तथा उसकी प्रस्थिति में समन्वय होने पर ही सामाजिक सम्बन्धों का निमार्ण हो सकता है। प्रस्थिति के अनुरूप किये गये व्यवहार को भूमिका (Role) से व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार प्रस्थिति और भूमिका ही सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करती है। विचारक वीरस्टीड का मत है कि "समाजशास्त्र का अतीत तो बहुत लम्बा है परन्तु इसका इतिहास संक्षिप्त है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही समाज के साथ–साथ वे सभी घटनाएं जो व्यक्ति के चंचल एवं जिज्ञासु मस्तिष्क को आन्दोलित करती है, चिन्तन एवं अध्ययन का विषय रही है। यह कहना सही है कि पश्चिम में प्लेटो का 'Republic' तथा पूर्व में कनफ्यूसिस के उपदेश समाजशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु समाज का अध्ययन पिछली एक शताब्दी में ही एक पृथक विषय तथा पृथक विज्ञान बन सका है[01]।

1.2 समाजशास्त्र का उद्‌भव

समाजशास्त्र एक आधुनिक विषय है जिसके अन्तर्गत हम मानव समाज का व्यवस्थित अध्ययन करते हैं और जिसका जन्म आज से लगभग एक शताब्दी पहले हुआ है। बोटोमोर ने लिखा है कि "लोगों ने हजारों वर्षों से उन समाजों और

समूहों का अवलोकन और चिन्तन किया है, जिसमें वे रहते है, फिर भी समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है और एक शताब्दी से पुराना नहीं है"।[01] अगस्त कोंत ने विज्ञानों के वर्गीकरण में, जिसे उन्होंने स्वयं किया, समाजशास्त्र को सबसे कम साधारण तथा अत्यधिक जटिल बताते हुए तार्किक और तथ्यपरक दृष्टिकोण से दूसरे विज्ञानों के बाद में रखा। रेडक्लिफ ब्राउन ने लिखा है कि "मानव समाज का विज्ञान अभी भी अन्यन्त शैशव अवस्था में है"।[02]

यदि हम भारतीय धर्मग्रन्थों और प्रमाणित साहित्यों का विश्लेषण करें तो पता चलता है कि उनमें सामाजिक वैचारिकी और सामाजिक विचारधारा का उल्लेख है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है अतः उसे समाज के दूसरे सदस्यों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए आदि बातों का चिन्तन समाज में प्रारम्भ से होता रहा है। एक व्यक्ति का कल्याण तभी सम्भव है जब समस्त मानव समाज का कल्याण होगा। वेदों मे भी मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी कहा गया है और उसे सामूहिक जीवन व्यक्त करने के लिए उपदेश भी दिया गया है। मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य 'मोक्ष' तभी मिल सकता है जब वह अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर ले। धार्मिक आधार पर बताया गया है कि किसी व्यक्ति को 'मोक्ष' तभी मिलेगा जब वह अनेक ऋणों अर्थात देव ऋण, मातृ ऋण तथा पितृ ऋणसे मुक्त हो जाय। व्यक्ति के कामनाओं की तृप्ति तथा विभिन्न ऋणों से उद्धार तब होगा जब उसे अन्य लोगों का सहयोग प्राप्त होगा और सभी लोग एक सहयोगात्मक पृष्ठभूमि में मिल जुलकर काम करेंगे। वेदों में भी इस प्रकार के सामूहिक जीवन का उल्लेख है। उपनिषदों, सूत्रों और पुराणों मे भी सामूहिक जीवन तथा सामाजिक सम्बन्धों से सम्बन्धित विभिन्न पहलूओं जैसे – प्रथागत सम्बन्ध, नैतिकता, इच्छित व्यवहार और समाजिकता पर मत व्यक्त किये गये हैं। मनुस्मृति में सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक विधान, धार्मिक कृत्य, प्रथा तथा परम्परा आदि का विशद विवेचन किया गया है। शुक्राचार्य ने अपने नीतिशास्त्र में नैतिकता क अतिरिक्त समाज के विभिन्न पहलूओं जैसे धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि के महत्वों को बताकर सम्पूर्ण समाज पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है प्रकाश डाला है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी अपने समय की एक सर्वोत्तम कृति है जिसमें राज्य, समाज, जनता और राजा के सभी पहलूओं का उल्लेख है। अकबर के शासनकाल में अबुलफजल द्वारा रचित "आइने ए अकबरी" एक ऐसी रचना है जो अकबर के शासन काल कें सभी सामाजिक पहलुओं यहॉ तक की हिन्दू विधि विधानों पर विधिवत प्रकाश डालती है। इसके द्वारा उस काल के सामाजिक सम्बन्धों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस पुस्तक की पूर्णता और उसे सर्वमान्य प्रमाण उसके 'मुगल गजट' की संज्ञा देते हैं। ईसा से 660 वर्ष पूर्व मशहूर पर्सियन समाज सुधारक जो रोस्टर ने अपने समाज की एकता को बनाये रखने, समाज से अव्यवस्था को दूर करने के लिए और श्रमिकों के शोषण को दूर करने के लिए अपना मत व्यक्त किया। मध्य काल में प्रसिद्व मुस्लिम विचारक अब्दुल रहमान इविन कालदन ने अपनी पुस्तक 'मुकदमा' में राज्यों के उत्थान, पतन तथा विनाश के वर्णन में अतिरिक्त यह दिखाने का प्रयास किया कि किस प्रकार भौगोलिक तथा जलवायु सम्बन्धी कारक सामाजिक सम्बन्धों में प्रभाव डालकर सामाजिक परिवर्तनों को जन्म देते हैं।

यूरोप और पश्चिम के अन्य देश भी समाजशास्त्रीय रचनाओं और सामाजिक विचारों के विस्तार में पीछे नहीं रहे। लॉक और रूसो के विचार व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के विश्लेषण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं। प्लेटो ने अपनी प्रमुख कृति 'The Republic' (427 – 347 ईसा पूर्व) तथा अरस्तू ने 'Ethics and Politics (384BC – 322 ईसा पूर्व) में विधिवत रूप से समाज, राज्य

और कानून का उल्लेख किया है। रोम के प्रसिद्व विचारक सिसरो ने अपनी पुस्तक 'On Justice' में अनेक सामाजशास्त्रीय पहलूओं जैसे दर्शन, कानून तथा राज्य आदि का वर्णन किया है। सेण्ट अगस्टाइन तथा थामस मोरे ने अपनी कृतियों मे सामाजिक विचारों का उल्लेख किया है। बेकन ने अपनी रचना 'New Atlantis' में भी समाजशास्त्रीय विचारों का उल्लेख किया है।

आधुनिक समाजशास्त्र का उद्‌भव 19वीं शताब्दी में हुआ। बोटोमोर ने लिखा है कि 19वीं शताब्दी में न केवल एक नये नाम का अपितु वास्तविक अर्थ में समाज के एक नए विज्ञान का सृजन हुआ है।[01] सर्वप्रथम समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग अगस्त कोंत ने जिनका काल 1798 ई0 से 1857 ई0 तक है, किया। उन्होने समाजशास्त्र को सामाजिक घटनाओं का विज्ञान कहा जिसके अध्ययन के लिए प्राकृतिक विज्ञानों मे

प्रयुक्त प्रविधियों का सहारा लिया जा सकता है। कोंत ने अपनी प्रमुख रचना 'Positive Philosophy' में विभिन्न समाजशास्त्रीय नियमों का विवेचन किया है। अंग्रेज समाजशास्त्री हरवर्ट स्पेन्सर (1820–1903) ने भी आधुनिक समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी प्रमुख कृतियॉ 'Social Statics', Principles of Sociology' और 'The man verses the state' विश्व की सर्वोत्तम समाजशास्त्रीय कृतियों में मानी जाती है। फ्रेडरिक लिप्ले (1806 – 1882) ने भी समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी प्रमुख रचना जो 6 खण्डों में प्रकाशित किया गया है और जिसका अंग्रेजी अनुबाद 'दी यूरोपियन वर्कर' के अन्तर्गत समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए पारिवारिक बजट को आधार माना गया है। पी0 वी0 यंग ने लिखा है कि सर्वेक्षण विधि तथा अवलोकन प्रविधि का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रेडरिक लीप्ले' ने ही किया। कार्ल मार्क्स, चार्ल्स डार्विन तथा सिंगमण्ड फ्रायड ने भी समाजशास्त्रीय रचनाओं के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यद्यपि ये सभी प्रत्यक्ष रूप से समाजशास्त्र विषय से सम्बन्धित नहीं थे। फ्रांसीसी समाजशास्त्रीय ईमाइल दुर्खीम और जर्मन विचारक मैक्स बेबर का योगदान भी समाजशास्त्र के लिए अन्यन्त महत्वपूर्ण है। दुर्खीम (1858 – 1917) ने अपनी कृतियों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अन्तिम सामाजिक तथ्य सामाजिक समूह है जिसका अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। मैक्स बेबर (1864–1920) ने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए अपने आदर्श प्रारूप के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। जर्मनी के महत्वपूर्ण दर्शनिकों के साथ मैक्स बेबर का भी नाम लिया जाता है। मार्गन, टेलर, स्माल वार्ड, समनर, केलर, वेस्टर मार्क, हाबहाउस, पैरेटो, गिडिग्स आगवर्न, चेपिन, लुण्डवर्ग, सोरोकिन, जेनिकी, पारसन्स, मैकाइवर, जिन्सवर्ग, मर्टन, गुरूविच, मूर, डेविस, कूले, ब्राउन, किंग्वल यंग, मार्शल, रूचक, मैनहीम तथा बेटोमोर आदि ने समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारतीय समाजशास्त्रीयों में घुरिए, आर0 के0 मुकर्जी, डी0 पी0 मुकर्जी, राजा राम शास्त्री, एस0 सी0 दूबे, आर0 एन0 सक्सेना, ए0 के0 सरन, एम0 एन0 श्रीनिवास, इरावती कर्वे, डी0 एन0 मजूमदार, पी0 एच0 प्रभु तथा एस0 पी0 नगेन्द्र आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन सभी ने अपने विचारों से समाजशास्त्र के साहित्य को समृद्ध किया।

1.3 समाजशास्त्र की परिभाषा

सोशियोलॉजी 'Sociology' शब्द लैटिन भाषा के सोशियस (Socius) जिसका अर्थ समाज होता है तथा ग्रीक शब्द लोगस (Logos) जिसका अर्थ अध्ययन अथवा विज्ञान 'Study of science' होता है, से बना है। इस प्रकार सोशियोलॉजी 'Sociology' का शाब्दिक अर्थ समाज के विज्ञान अथवा समाज के अध्ययन से है। डा0 के0 के0 मिश्र के अनुसार "समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो समाज का व्यवस्थित तथा सम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करता है"।[01] सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था ही समाज है जिसका व्यवस्थित अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत होता है। सामाजिक सम्बन्धों का निमार्ण सामाजिक अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप होता है। अतः समाजशास्त्र सामाजिक अन्तःक्रियाओं तथा इनसे निर्मित सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। "बोटोमोर ने लिखा है कि 'समाजशास्त्र पहला विज्ञान था जो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन और समाज का निमार्ण करने वाली सामाजिक संस्थाओं तथा सामाजिक समूहों की सम्पूर्ण जटिल व्यवस्था से सम्बन्धित था।" इस प्रकार हम कह सकते है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न सामाजिक इकाईयों के पहलूओं का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की निम्नलिखित परिभाषाएं दी हैं

आगबर्न और निमकाफ के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का एक वैज्ञानिक अध्ययन है।"[02]

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और वह निरन्तर बदलता रहता है।"[03]

जिन्सवर्ग ने लिखा है कि "समाजशास्त्र मानव अन्तःक्रियाओं तथा अन्तः सम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।" इस परिभाषा में इस बात का संकेत मिलता है कि समाजशास्त्र उन प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है जो सामाजिक अन्तःक्रियाओं के परिणाम स्वरूप निर्मित होती है।

सिमेल के अनुसार, "समाजशास्त्र व्यक्तियों के अन्तःक्रियाओं के स्वरूपों का विज्ञान है।" इस व्याख्या के अन्तर्गत इस बात का संकेत मिलता है कि समाजशास्त्र को अन्तःक्रियाओं के किन्ही विशेष प्रारूपों का अध्ययन करना चाहिए।

गिलिन एवं गिलिन ने लिखा है कि " समाजशास्त्र के अन्तर्गत उन व्यक्तिओं के अन्तःक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो उस समाज में रहते हैं।"

दुर्खीम ने अपनी व्याख्या में समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामूहिकता के अध्ययन पर अधिक बल दिया है वे लिखते हैं कि "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व का विज्ञान है।"

किंग्सले डेविस ने लिखा है कि "समाजशास्त्र समाज तथा सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन करता है।"

इंकल्स ने अपना विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है इसे केवल समाज के किसी एक ही भाग का अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं है अपितु इसे सम्पूर्ण समाज का अध्ययन

करना चाहिए।" अतः यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र वह विशेष ज्ञान है जो समाज को अपने अध्ययन की इकाई मानता है।[01]

जानसन ने अपनी पुस्तक 'Sociology' में लिखा है कि "समाजशास्त्र एक विज्ञान है जो सामाजिक समूहों के बारे में अध्ययन करता है।"

सोरोकिन ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "समाजशास्त्र समाज के उन पहलूओं का अध्ययन करता है जो गतिशील, स्थिर तथा सार्वभौमिक है तथा जो प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की विषय वस्तु से सम्बन्धित है, किन्तु तब भी कोई भी सामाजिक विज्ञान उनका विशिष्ट रूप से अध्ययन नहीं करता है।"

उपरोक्त मतों के आधार पर समाजशास्त्र को अति संक्षिप्त निम्नलिखित परिभाषाओं से व्यक्त किया जा सकता है।[02]

- समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का अध्ययन है।
- समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।
- समाजशास्त्र समाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है।
- समाजशास्त्र समाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन है।
- समाजशास्त्र समाजिक संस्थाओं का अध्ययन है।
- समाजशास्त्र समाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन है।

1.4 समाजशास्त्र की प्रकृति

सभी समाजशास्त्रीयों ने समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक माना है। समाजशास्त्र के जनक अगस्त कोंत ने जो स्वयं भौतिकशास्त्र के विचारक रहे हैं उन्होने प्रत्येक सामाजिक तथ्य को वैज्ञानिक विधि द्वारा प्राप्त किये जाने पर बल दिया है। बोटोमोर ने ठीक ही लिखा है कि "प्राकृतिक विज्ञानों और समाजशास्त्र में केवल इतना ही अन्तर है कि प्राकृतिक विज्ञान किसी तथ्य की कार्य–कारण सम्बन्धी व्याख्या करते हैं जबकि समाजशास्त्र का उद्‌देश्य अर्थ का विवेचन करना और उसे समझना है"।[01]

विज्ञान के लिए आवश्यक है कि उसमें निश्चित चरणों के माध्यम से विषय वस्तु को प्राप्त किया जाय। यदि इन निश्चित चरणो (Steps) के माध्यम से विषय वस्तु प्राप्त किया जाय तो अध्ययन की सामग्री को वैज्ञानिक सामग्री कहा जायेगा।

वैज्ञानिक विधि के आवश्यक चरण अग्रलिखित हैं –

1. उपकल्पना
2. अवलोकन
3. तथ्य संग्रह

4. वर्गीकरण
5. सामान्यीकरण
6. सामान्यीकरण का सत्यापन

समाजशास्त्र के अध्ययन हेतु सामाजिक तथ्यों को इन्हीं चरणों के माध्यम से प्राप्त किया जाता है जो सुनिश्चित है। विज्ञान की एक विशेषता निश्चितता भी है इस आधार पर भी सिद्ध होता है कि समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है।

रार्बट वीरस्टीड ने लिखा है कि 19वीं शताब्दी में फ्रांसीसी दार्शनिक अगस्त कोंत ने एक ग्रन्थ माला में समाज के अध्ययन की एक सामान्य पद्धति प्रस्तुत की थी, उनका विश्वास था कि विज्ञान एक दूसरे का एक निश्चित एवं तार्किकक्रम में अनुसरण करते हैं और सभी अन्वेषण वैज्ञानिक स्तर तक पहुँचने तक कुछ अवस्थाओं से होकर गुजरतें हैं। उनका विचार था कि सामाजिक समस्याओं और सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित अन्वेषणों के लिए अब इस अन्तिम अवस्था पर आ जाने का समय आ गया है इसलिए उन्होने यह सिफारिश की, समाज के अध्ययन को समाज विज्ञान माना जाय। कोंत ने इस नवीन विज्ञान को समाजशास्त्र का नाम दिया।[02]

कार्ल पियर्सन ने लिखा है कि तथ्यों का वर्गीकरण, उनका क्रम और तथ्यों का तुलनात्मक महत्व प्रदान करना ही विज्ञान का प्रमुख कार्य है।[01]

समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जो प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न है। सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों मे मूल अन्तर विषय–वस्तु की दृष्टि से होता है। प्रणाली (अध्ययन के ढ़ंग) की दृष्टि से उनमें कोई अन्तर नहीं होता। उदाहरण स्वरूप समाजशास्त्र की विषय–वस्तु 'सामाजिक सम्बन्ध' अमूर्त है जबकि भौतिकशास्त्र की विषय–वस्तु मूर्त है। फिर भी उपरोक्त दोनो प्रकार के विज्ञानों मे अध्ययन का ढ़ंग समान है जैसे – उपकल्पना का निर्माण, अवलोकन, तथ्य संग्रह, वर्गीकरण, सामान्यीकरण आदि चरणों का प्रयोग समान रूप से दोनो प्रकार के विषयों के अध्ययन में किया जाता है। विज्ञान की भांति समाजशास्त्र भी मूल्यों के प्रति तटस्थता का रूख अपनाता है। वीयरस्टेड ने लिखा है कि "विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र आवश्यक रूप से मूल्यों के विषय में चुप रहता है"।

समाजशास्त्र एक सैद्धान्तिक (Pure) विज्ञान है, व्यवहारिक (Applied) नही। समाजशास्त्र मानव समाज के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। अब उस ज्ञान का प्रयोग मानव कल्याण के लिए कैसे हो इसका निर्णय अन्य विषयों का हो जाता है। जिस प्रकार भौतिकशास्त्री स्वयं पुलों का निर्माण नहीं करते वे केवल पुलों के निमार्ण का सिद्धान्त देते हैं। जिस प्रकार एक डाक्टर किसी रोगी का रोग और उसके निवारण के लिए क्या दवा चाहिए उसकी सलाह देता है वह स्वयं दवा की दुकान पर बैठकर दवा देने का काम नहीं करता, ठीक उसी प्रकार समाजशास्त्र में विभिन्न सामाजिक समस्याओं के क्या कारण हैं उस पर प्रकाश डाला जाता है उसके निदान की जिम्मेदारी अन्य विषयों को जाती है।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि –

1. समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है।
2. समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान है।
3. समाजशास्त्र एक सैद्धान्तिक विज्ञान है।

4. समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है।
5. समाजशास्त्र एक तार्किक विज्ञान है।
6. समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है।

1.4.1 समाजशास्त्र को विज्ञान मानने में कठिनाइयॉ

कुछ विचारकों ने समाजशास्त्र को अन्य विज्ञानों की भांति न माना जाय उसके समर्थन में कुछ तर्क दिये हैं जो अग्रलिखित हैं–

अध्ययनकर्ता और अध्ययन की विषय–वस्तु दोनो मनुष्यों से सम्बन्धित है–

अतः इस स्थिति में यह आशंका बनी रहती है कि निर्णय पक्षपातपूर्ण न हो जाय।

तटस्थता की कमी–

व्यक्ति अपने हित का ध्यान प्रत्येक निष्कर्ष के समय रखता है इस स्थिति में तटस्थता कायम नहीं रह सकती।

सामाजिक घटनाओं की जटिलता तथा विजातियता–

अधिकांश सामाजिक घटनाएं जटिल और विजातीय होतीं है अतः उनका अध्ययन क्रमबद्ध हो रहा है इसे निश्चितता के साथ नहीं कहा जा सकता।

प्रयोगशाला का अभाव–

पूरा विश्व समाजशास्त्र के लिए प्रयोगशाला कहा जाता है जो एक अनिश्चित अवधारणा है। प्राकृतिक विज्ञानों की भांति इसमें प्रयोगशाला विधि का अभाव है।

इन कमियों को स्वीकारते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है। जैसा कि अग्रणी समाजशास्त्रीयों ने कहा है कि समाजशास्त्र में विषय–वस्तु को निश्चित चरणों से प्राप्त किया जाता है। निश्चितता वैज्ञानिकता का एक लक्षण है इस आधार पर सर्वमान्य धारणा है कि समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है।

1.5 समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र

समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र के बारे में समाजशास्त्रियों में दो मत है जिन्हे दो सम्प्रदायों (School) के नाम से जाना जाता है।

- विशेषात्मक सम्प्रदाय (Specialistic School) अथवा स्वरूपात्मक (Formal) सम्प्रदाय।
- समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)

1. विशेषात्मक सम्प्रदाय अथवा स्वरूपात्मक सम्प्रदाय–

जर्मन समाजशास्त्री जार्ज सिमेल (Simmel) इस सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक माने जाते हैं। इनका विचार है कि समाजशास्त्र चूँकि एक विशिष्ट विज्ञान है अतः इसके अध्ययन का क्षेत्र भी विशिष्ट होना चाहिए। सिमेल का विचार है कि जब तक समाजशास्त्र का कोई विशेष अध्ययन क्षेत्र नहीं होगा तब तक इसे उपयोगी तथा व्यवस्थित शास्त्र नहीं बनाया जा सकता। इसी उद्‌देश्य के वशीभूत होकर इस सम्प्रदाय से जुड़े अन्य समाजशास्त्रियों जैसे स्माल, रॉस, टॉनिज, मैक्स बेबर आदि ने समाजशास्त्र में किन्ही निश्चित प्रक्रियाओं के अध्ययन पर बल दिया है। इन विचारकों का मानना है कि अगर अध्ययनकर्ता कुछ संयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं जैसे सहयोग, व्यवस्थापन और सात्मीकरण आदि का अध्ययन कर लें और कुछ असंयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं जैसे प्रतिस्पर्धा, प्रतिकूलता और संघर्ष आदि का अध्ययन कर लें तो मान लिया जायेगा कि सम्पूर्ण समाज का अध्ययन हो गया।

कुछ समाजशास्त्रियों ने इस विचारधारा की आलोचना इस आधार पर किया कि यदि सीमित सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन तक समाजशास्त्र को सीमित रखा गया तो समाजशास्त्र कैसे कह सकेगा कि हम समाज का सम्पूर्ण अध्ययन करते हैं। कुछ व्यवहार ऐसे भी हो सकतें हैं जो पूरी तरह से इन प्रक्रियाओं के अन्तर्गत न आते हों। इस कमी को पूरा करने हेतु समाजशास्त्र में दूसरा सम्प्रदाय जिसका विवरण अग्रलिखित है प्रचलन में आया।

2. समन्वयात्मक सम्प्रदाय–

इस सम्प्रदाय में अग्रणी समाजशास्त्री दुर्खीम, थामस वार्ड, जिन्सवर्ग, सोरोकिन, हाबहाउस तथा अन्य समाजशास्त्री आते हैं। समन्वयात्मक सम्प्रदाय के समाजशास्त्रीयों का यह मानना था कि यद्यपि सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण है फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि समाज के समस्त मानव प्राणियों का व्यवहार उन्ही निश्चित सामाजिक प्रक्रियाओं में समाहित हो जाय। जिसका उल्लेख विशेषात्मक सम्प्रदाय के समाजशास्त्रीयों ने किया है। समाजशास्त्र का समाज के एक पूर्ण विज्ञान या विषय के रूप में होना तब सिद्ध होगा जब समाज में कोई भी व्यवहार अध्ययन से आछूता न रह जाय। अतः समन्वयात्मक सम्प्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र में अध्ययन हेतु उन समस्त सामाजिक क्रियाओं का जो संयोगात्मक और असंयोगात्मक के अतिरिक्त है अध्ययन भी होना चाहिए और तब हम कह सकेंगे कि समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन है। दुर्खीम ने समाजशास्त्र को तीन प्रमुख भाग में बॉटकर अध्ययन की बात की –

1. सामाजिक शरीर रचना शास्त्र (Social Physiology)
2. सामाजिक रूप का शास्त्र (Social Morphology)
3. सामान्य समाजशास्त्र (General Sociology)

कुछ समाजशास्त्रियों ने इस सम्प्रदाय की आलोचना करते हुए लिखा कि यदि समन्वयात्मक सम्प्रदाय के मतों को पूरी तरह स्वीकार कर लिया जाय तो अन्य सामाजिक विज्ञानों में जो अध्ययन किया जाता है और समाजशास्त्र में कोई मौलिक अन्तर नहीं रह जायेगा।

उपरोक्त दोनो सम्प्रदायों के उद्देश्य को ध्यान रखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है। यह विभिन्न सामाजिक विषयों में सम्बन्ध स्थापित करता है और उन सामान्य लक्षणों का अध्ययन करता है जो सभी विषयों में साधारणतया मिलतें है यह एक विशिष्ट विज्ञान भी है क्योंकि यह समाज की पूर्णता का अध्ययन करता है।

1.6 सारांश

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है, समाज का निमार्ण सामाजिक सम्बन्धों से होता है सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण सामाजिक अन्तःक्रियाओं द्वारा होता है अतः समाजशास्त्र समाज का अध्ययन, सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन, सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन है। समाजशास्त्र के उद्भव के बारे में समाजशास्त्रीय वीरस्टीड का यह कहना महत्वपूर्ण है कि ″समाजशास्त्र का अतीत बहुत लम्बा है परन्तु इसका इतिहास संक्षिप्त है″। वही अगस्त कोंत ने विज्ञानों के वर्गीकरण में समाजशास्त्र को सबसे कम साधारण तथा अत्यधिक जटिल विज्ञानों के रूप में शामिल किया गया है।

आधुनिक समाजशास्त्र का उद्भव 19वीं शताब्दी में हुआ। समाजशास्त्र के जन्मदाता 'अगस्त कोंत' (1798ई. –1857ई.) को माना जाता है। समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग ″पाजिटिव फिलासफी″ में 1838 में किया गया था। समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ, लैटिन भाषा के सोशियस (Socius) अर्थात समाज और लोगस (Logos) अर्थात विज्ञान; समाज का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। डा0 के0 के0 मिश्र ने ″समाजशास्त्र को समाज का व्यवस्थित तथा सम्पूर्ण अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है″। समाजशास्त्र में उपकल्पना, अवलोकन, तथ्य संग्रह, वर्गीकरण, सामान्यीकरण व सामान्यीकरण का सत्यापन जैसे वैज्ञानिक विधि के चरणों का प्रयोग होता है जिसके कारण इसे वैज्ञानिक भी माना जाता है। समाजशास्त्र एक सैद्धान्तिक (Pure) विज्ञान है

व्यवहारिक नहीं। समाजशास्त्र को विज्ञान मानने में कठिनाइयों के बारे में कुछ विचारकों का मत इसमें अध्ययनकर्त्ता और अध्ययन की विषय–वस्तु दोनो मनुष्यों से सम्बन्धित है जिससे पक्षपात की सम्भावना बनी रहती है, अन्य कारणों में तटस्थता की कमी, सामाजिक घटनाओं की जटिलता तथा बिजातीयता, प्रयोगशाला का अभाव आदि को बताया गया है परन्तु फिर भी समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक ही है। समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के बारे में समाजशास्त्रियों में दो मत है जिन्हे दो सम्प्रदायों (School) के नाम से जाना जाता है। (1) – विशेषात्मक सम्प्रदाय या स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक जार्ज सिमेल हैं इनके अनुसार समाजशास्त्र चूँकि एक विशिष्ट विज्ञान है अतः इसके अध्ययन का क्षेत्र भी विशिष्ट होना चाहिए। सीमित सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के कारण यह विचारधारा प्रचलन में नहीं आया। (2) – समन्वयात्मक सम्प्रदाय में समाजशास्त्र के

अध्ययन हेतु उन समस्त सामाजिक क्रियाओं, जो संयोगात्मक और असंयोगात्मक के अतिरिक्त है, का अध्ययन भी होना चाहिए।

1.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) मैकाईवर और पेज – "सोसाइटी"

(2) के0 के0 मिश्र "समाजशास्त्र के मूल तत्व"

(3) टी0 वी0 बोटोमोर "सोशियोलोजी"

(4) के0 डेविस "ह्यूमन सोसाइटी"

1.8 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजशास्त्र किसे कहतें हैं? इसकी प्रकृति और उद्भव की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2 समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिए। एवं इसके अध्ययन क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3 समाजशास्त्र के विषय–वस्तु की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 4 समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है; विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजशास्त्र के विशेषात्मक सम्प्रदाय एवं स्वरूपात्मक सम्प्रदाय को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2 समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 समाजशास्त्र का पिता निम्नलिखित में से किसे कहा जाता है।

(क) सेंट साइमन (ख) अगस्त कोंत

(ग) हीगल (घ) जे0 एस0 मिल

प्रश्न 2 निम्नलिखित में कौन से विद्वान स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School) के समर्थक नहीं हैं?

(क) इमाइल दुर्खीम (ख) टानीज

(ग) मैक्स बेबर (घ) जार्ज सिमेल

विषय सम्बोध

प्रश्न 3 समाजशास्त्र विषय की उत्पत्ति कब हुई?

(क) 1914 ई. (ख) 1919 ई.

(ग) 1838 ई. (घ) 1947 ई.

प्रश्न 4 भारतीय समाजशास्त्र के जनक हैं।

(क) राधाकमल मुखर्जी (ख) जी0 एस0 धुरिये

(ग) डी0 एन0 मजूमदार (घ) इरावती कर्वे

उत्तर –1 (ख) 2 (क) 3 (ग) 4 (ख)

इकाई–2

समाजशास्त्र का अन्य समाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध एवं अन्तर

इकाई की रूपरेखा–

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र

2.3 समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान

2.4 समाजशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र

2.5 समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र

2.6 समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र

2.7 समाजशास्त्र तथा इतिहास

2.8 सारांश

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.10 परीक्षापयोगी प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे–

- समस्त ज्ञान प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत।
- समाजशास्त्र का मानवशास्त्र से सम्बन्ध।
- समाजशास्त्र का मनोविज्ञान से सम्बन्ध।
- समाजशास्त्र का दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध।
- समाजशास्त्र का राजनीतिशास्त्र से सम्बन्ध।
- समाजशास्त्र का अर्थशास्त्र से सम्बन्ध।
- समाजशास्त्र का इतिहास से सम्बन्ध।

2.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है इसका क्षेत्र विस्तृत है जबकि अन्य विशिष्ट सामाजिक विज्ञान समाज के कुछ सीमित क्षेत्रों का ही अध्ययन करतें हैं।

विषय सम्बोध

विश्व के समस्त ज्ञान को सामान्यतया दो भागों में बॉटा जा सकता है–

(1) प्राकृतिक विज्ञान जैसे – भौतिकी, रसायन शास्त्र, जीवविज्ञान आदि।

(2) सामाजिक विज्ञान जिसे पुनः दो भागों में बॉटा जा सकता है सामान्य सामाजिक विज्ञान और विशिष्ट सामाजिक विज्ञान। चार्ट के रूप में इसे अग्रलिखित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है–

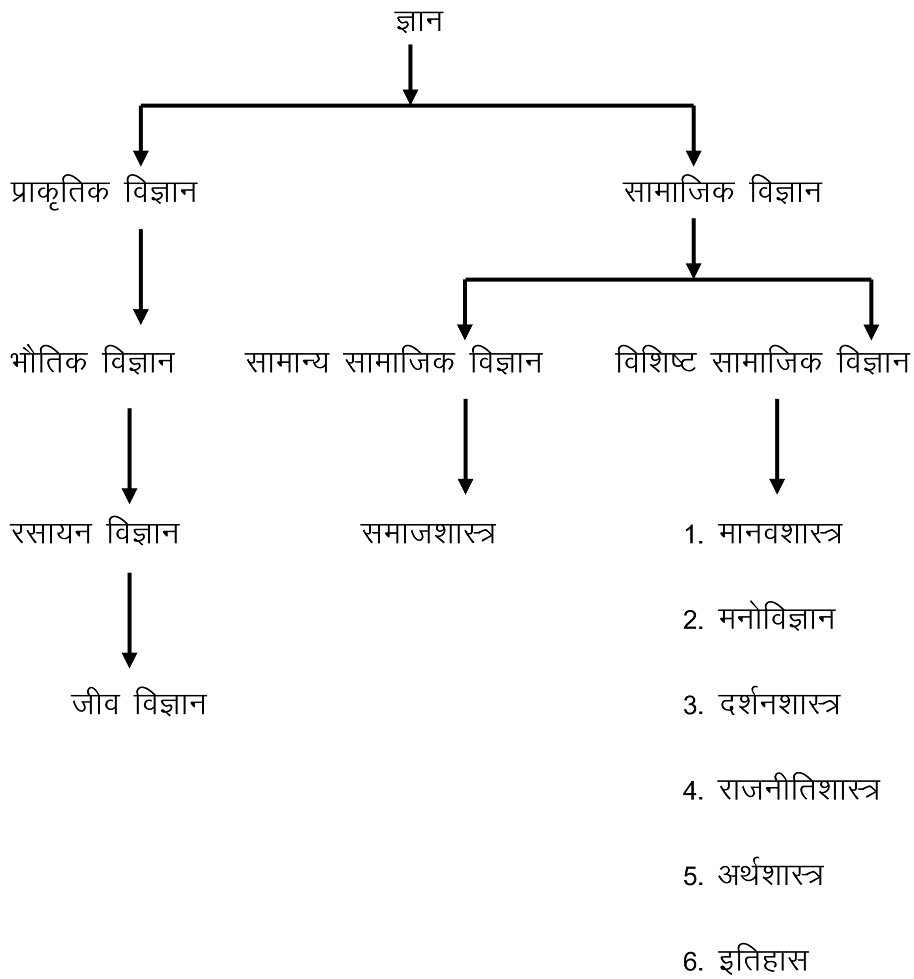

2.2 समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र

समाजशास्त्र और मानवशास्त्र यद्यपि अलग–अलग श्रोतों से सम्बन्धित रहे हैं फिर आधुनिक युग में दोनो में अन्तर करना एक कठिन कार्य है। जहॉ तक उत्पत्ति का सम्बन्ध है, एक तरफ समाजशास्त्र, इतिहास के दर्शनशास्त्र, राजनैतिक विचार तथा सामाजिक सर्वेक्षण से सम्बन्धित रहा तो दूसरी तरफ सामाजिक मानवशास्त्र का सम्बन्ध भौतिक मानवशास्त्र और जैविकी से रहा है। बोटोमोर ने लिखा है कि इन दोनो विषयों की धारणाओं, अनुसंधान तथा विश्लेषण की पद्धतियों

तथा रूचि की दिशाओं का यदि परीक्षण किया जाय तो शीघ्र ही यह ज्ञात हो जायेगा कि अब भी वे दोनो विषय एक दूसरे से काफी दूर है। अन्य प्रमुख विचारकों जैसे हावेल इवान्स प्रिचार्ड, एस0 सी0 दूबे आदि का मत है कि समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र में जहॉ तक आधुनिक युग का सम्बन्ध है, कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक किम्बल यंग ने भी इसी प्रकार का विचार दिया है।

मुख्य रूप से समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में अन्तर अग्रलिखित है–

(1) मानवशास्त्र आदिम जातियों तथा आदिम समाजों से सम्बन्धित रहा है जबकि समाजशास्त्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वर्तमान समाजों से ही है। मानवशास्त्र सुझाव देने के पक्ष में नहीं है वह तो सामाजिक समूहों का अध्ययन उसी रूप में प्रस्तुत करना चाहता है जिस रूप में वे हैं। जबकि समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए, सामाजिक सुधार के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत करता है। समाजशास्त्र के जनक अगस्त कोंत का विचार था कि समाजशास्त्र का एक लक्ष्य समाज कल्याण तथा सामाजिक पुनर्गठन होना चाहिए।

(2) समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण व्यवहारिक है तथा वर्तमान की ओर अधिक झुका है जबकि मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण शुद्ध ज्ञान और भूतकाल से सम्बन्धित है।

(3) समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक विकास और उसमें आनेवाली बाधाओं से अधिक है। समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का व्यवस्थित अध्ययन करता है जबकि मानवशास्त्र क्षेत्रीय अध्ययनों से अधिक सम्बन्धित रहा है।

(4) समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र दोनो विषयों में अध्ययन पद्धतियॉ अलग–अलग हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रलेखों, सर्वेक्षणों, अनुसंधानों तथा सांख्यीकीय पर आधारित होते हैं। कभी–कभी कल्याणकारी दृष्टिकोण होने के कारण निष्कर्ष तटस्थ नहीं रह पाते फिर भी समाजशास्त्री वैज्ञानिक अध्ययन का दावा करता है। मानवशास्त्री समाज को एक कार्यरत सम्पूर्णता के रूप में देखता है और इसका वर्णन तटस्थ रूप से करता है क्योंकि उसका सम्बन्ध उस समाज के नैतिक मूल्यों तथा मान्यताओं से नहीं होता।

(5) समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक नियोजन के कार्यक्रमों को बनाने में मार्गदर्शक के रूप में होता है जबकि मानवशास्त्र का इस प्रकार का कोई उद्‌देश्य नहीं होता।

इन अन्तरों के होते हुए भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र एक दूसरे के अति निकट हैं। इसका कारण है कि अब अधिकांश आदिम समाज आधुनिक प्रौद्योगिकी और पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर परिवर्तित हो रहे हैं। आदिम लघु समूहों पर वृहद समूहों का अधिपत्य बढ़ता जा रहा है विभिन्न सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलन पनप रहें हैं ऐसी स्थिति में अब मानवशास्त्री भी उन्हीं समस्याओं का सामना कर रहा है जिनका सामना एक समाजशास्त्री कर रहा था। अब मानवशास्त्रिओं के भी अध्ययन का विषय आर्थिक विकास तथा सामाजिक परिवर्तन से युक्त समाज है। वीरस्टीड ने लिखा है कि मानवशास्त्र और समाजशास्त्र एक दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि

दोनो में स्पष्ट अन्तर करना कठिन है मानवशास्त्र प्रत्यक्ष रूप से आदिम समाजों से सम्बन्धित है जबकि समाजशास्त्र मुख्य रूप से आधुनिक समाज के अध्ययन से अपने को सम्बन्धित मानता है।

भारतवर्ष एक ऐसा समाज है जिसे न आदिम कहा जा सकता है न आधुनिक, न औद्योगीकृत ऐसे समाज में साधारणतया समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रीयों को एक सी ही समस्याओं का सामना करना पड़ता है। भारतीय समाज की समस्त अध्ययन वस्तु ऐसी है जो समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों के लिए समान रूप से उचित प्रतीत होती है। अन्त में कहा जा सकता है कि दोनो विषयों में कुछ मूलभूत अन्तर होते हुए भी अधिक घनिष्ठता है।

2.3 समाजशास्त्र और मनोविज्ञान

रेडक्लिफ ब्राउन का विचार है कि "समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान अलग–अलग धारणाएं हैं और दोनो पूरी तरह से अलग–अलग व्यवस्थाओं का अध्ययन करतीं हैं। समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान मानसिक व्यवस्था का।" बोटोमोर का कथन है कि "समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के विषय–वस्तु को एक दूसरे का विरोधी कहना एक अतिवादी धारणा होगी। दोनो का समन्वय और दोनो के द्वारा एक जैसी समस्याओं का अध्ययन सम्भव है। समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक व्याख्याऐं एक दूसरे की पूरक हो सकतीं हैं।"

थाउल्स ने मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "मनोविज्ञान मानव अनुभव तथा व्यवहारों का एक यथार्थ विज्ञान है। समाजशास्त्र भी सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है जो मानव व्यवहारों पर ही आधारित है।" इस प्रकार हम देखतें हैं कि मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। मैकाईबर ने लिखा है कि यह केवल सामान्य सामग्री और दृष्टिकोणों में अन्तर है। समाजशास्त्र विशेष रूप से मनोविज्ञान को सहायता देता है जिस प्रकार मनोविज्ञान समाजशास्त्र को विशेष सहायता देता है। सामाजिक मनोविज्ञान समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के बीच की कड़ी के समान है जिससें इन दोनो विषयों में और निकटता का अनुभव किया जा रहा है। कार्ल पियर्सन और वार्ड दोनो ही समाजशास्त्र तथा सामाजिक मनोविज्ञान को समान मानतें हैं, फिर भी दोनो को एक नहीं माना जा सकता। क्लाईनवर्ग ने भी इस मत का समर्थन किया है। वे लिखतें है कि समाजशास्त्र का प्रमुख रूप से सम्बन्ध समूह व्यवहार से है जबकि सामाजिक मनोविज्ञान का किसी सामूहिक परिस्थिति में व्यक्ति के व्यवहार से है। क्रच और क्रचफिल्ड ने भी लिखा है कि सामाजिक मनोविज्ञान समाज में व्यक्ति के व्यवहार का विज्ञान है।

जे0 एस0 मिल का मत है कि समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में एक जैसी अध्ययन वस्तु का अध्ययन होता है। उनका कहना है कि एक सामान्य सामाजिक विज्ञान को उस समय तक निश्चित रूप से प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता जब तक कि अनुमानात्मक रूप से स्थापित इसके सामान्यीकरणों को तार्किक रूप से मस्तिष्क की विधियों से निगमनात्मक रूप से प्राप्त न किया जा सके। समाज

मनुष्यों की उन विशेषताओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो वैयक्तिक मनुष्य की प्रकृति के नियमों से उसने प्राप्त की है, और जिसमें उनका समावेश हो सकता है। दुर्खीम का मत जे0 एस0 मिल के मत से मेल नहीं खाता। दुर्खीम का कहना है कि समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की अध्ययन वस्तुओं में कोई सामंजस्य नहीं बल्कि दोनो में मौलिक अन्तर है। दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र को सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करना चाहिए। ये तथ्य व्यक्तिओं के मस्तिष्क से वाह्य है तथा उन पर वाध्यता मूलक प्रभाव डालते हैं। इन सामाजिक तथ्यों की व्याख्या अन्य सामाजिक तथ्यों के सन्दर्भ में हो सकती है मनोवैज्ञानिक तथ्यों से नहीं। समाज व्यक्तिओं का संकलन मात्र ही नहीं है बल्कि एक ऐसी वास्तविक व्यवस्था है जिसकी कुछ अपनी विशेषतायें हैं। समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के बीच वही अन्तर है जो जीवविज्ञान, भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के बीच है।

उपरोक्त दोनो विचार अतिश्योक्तिपूर्ण है। अतः उनके बीच के मार्ग का अनुसरण करना ही अधिक लाभकारी होगा। डिल्थे, मैक्सबेबर, जिन्सवर्ग, नेडल आदि का मत है कि समाजशास्त्रीय ज्ञान के लिए मनोविज्ञान का साधारण ज्ञान उचित तथा हितकारी हो सकता है।

2.4 समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र

समाजशास्त्र एक ओर जहॉ वैज्ञानिक विधि की बात करता है वहीं पर दर्शनशास्त्र नैतिकता तथा मानवीय मूल्यों पर आधारित मानता है। एक बात स्मरणीय है कि सामाजिक मूल्यों के अभाव में कोई भी समाजशास्त्रीय निष्कर्ष कुछ भी महत्व नहीं रखता है। कोंत ने समाज के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग को उचित बताया लेकिन इसके साथ–साथ उसने इस बात पर भी बल दिया कि समाजशास्त्र का दृष्टिकोण वैज्ञानिक होते हुए भी कल्याणकारी होना चाहिए। कोई भी क्रिया कलाप या वस्तु कल्याणकारी है या नहीं इसका निर्धारण सामाजिक मूल्यों से ही हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्र के प्रारम्भ से ही उसका झुकाव सामाजिक मूल्यों की ओर ही रहा है जिसका सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से भी है। मानवीय गतिविधियों तथा समाजशास्त्रीय अध्ययनों में सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तविकता तो यह है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति ही उन दार्शनिक आकांक्षाओं में हुयी है जिनसे सामाजिक समस्याओं का निराकरण किया जा सके।

टी0 बी0 बोटोमोर ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी' में समाजशास्त्र तथा दर्शन के सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित तीन पहलूओं का उल्लेख किया है –

(1) समाजशास्त्र के लिए दार्शनिक विवेचन आवश्यक है। जब विज्ञान का दर्शन सम्भव है तो समाजशास्त्र का भी दर्शन (Philosophy) हो सकता है।

(2) समाजशास्त्र का नैतिकता तथा सामाजिक दर्शन से निकट का सम्बन्ध रहा है। सामाजिक दर्शन में कुछ प्रशिक्षण के पश्चात ही समाजशास्त्री विभिन्न समस्याओं में अन्तर करने तथा उनके परस्पर सम्बन्धों को समझने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं।

(3) समाजशास्त्र साधारणतया दार्शनिक विचारधारा की ओर अग्रसर होता है। दुर्खीम ने लिखा है कि विश्वास किया जा सकता है कि समाजशास्त्र

किसी भी अन्य सामाजिक विज्ञान की तुलना में दार्शनिक प्रश्नों के पुनर्जागरण में सर्वाधिक योगदान कर सकता है।

समाजशास्त्रियों का मत है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त विश्व में इतने अधिक लोकप्रिय इसलिए हुए क्योंकि उनमें दार्शनिक दृष्टिकोण था। इसी प्रकार भारतवर्ष में महात्मा गाँधी के सिद्धान्त अधिक प्रभावशाली इसलिए हुए क्योंकि उनके सिद्धान्तों में भी एक दार्शनिक पहलू था। तुलनात्मक पद्धति भी तभी काम कर सकती है जब उनमें दर्शन तथा सामाजिक मूल्यों दोनो का समावेश हो। दर्शन से सम्बन्धित होने पर ही समाजशास्त्र एक व्यक्ति का एक मनुष्य के रूप में अध्ययन कर सकता है तथा मूल्यों के दार्शनिक और वैज्ञानिक अध्ययनों के बीच अन्तर स्पष्ट कर सकता है।

2.5 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

कुछ विचारकों का यह कहना है कि राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र के एक अंग की भांति है। गिडिंग्स ने लिखा है कि समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्तिओं को राज्य के सिद्धान्तों को पढ़ाना ठीक उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार न्यूटन के गति के सिद्धान्त से अनभिज्ञ व्यक्ति को खगोल तथा उष्म विज्ञान पढ़ना। इस प्रकार यदि इन कथनों का विवेचन किया जाय तो अनायास ही समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

बेनवर्ग ने राजनीतिशास्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि राजनीतिशास्त्र उन पद्धतियों का अध्ययन है जिनसे एक समाज अपने को संगठित कर राज्य को संचालित करता है।

गार्नर ने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र मानव सम्बन्धों के केवल एक प्रकार 'राज्य' से सम्बन्धित है; जबकी समाजशास्त्र सभी प्रकार के मानव सम्बन्धों का अध्ययन करता है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति राजनीतिशास्त्र से हुयी है।

परम्परागत राजनीतिशास्त्र के तीन महत्वपूर्ण पहलू थे –

(1) वर्णनात्मक – केन्द्रीय तथा स्थानीय, सरकारी एवं प्रशासन सम्बन्धी औपचारिक संगठनो का वर्णन।

(2) व्यवहारिक –संगठन तथा कार्यप्रणाली की व्यवहारिक समस्याओं का अध्ययन।

(3) दार्शनिक –जिसके अन्तर्गत राजनीतिक सिद्धान्तों का उल्लेख होता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र का विकास यह सिद्ध करता है कि समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीतिशास्त्र राज्य के कानून से सम्बन्धित है, समाजशास्त्र भी राज्य के कानून को औपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधनों के रूप में अध्ययन करता है।

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में कुछ प्रत्यक्ष अन्तर अग्रलिखित हैं–

(1) समाजशास्त्र समाज के समस्त पहलूओं का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र केवल उसके राजनैतिक पहलू राज्य और गतिविधियों के अध्ययन तक सीमित है।

(2) समाजशास्त्र विभिन्न संस्थाओं (जिसमें सरकार भी सम्मिलित है) के अन्तः सम्बन्धों का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के अधीन अथवा उसके द्वारा निर्मित किन्हीं प्रक्रियाओं का ही अध्ययन करता है।

(3) राजनीतिशास्त्र शासन प्रबन्ध अथवा सरकार को कुशल किस प्रकार बनाया जाय इससे सम्बन्धित है जबकि राजनैतिक समाजशास्त्र अपने को नौकरशाही तथा उसके विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित रखता है।

(4) समाजशास्त्र समाज की समग्रता का अर्थात उसके संगठित अथवा असंगठित दोनो ही प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करता है, जबकि राजनीतिशास्त्र केवल राज्य के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखता है।

2.6 समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र

इंकलेस ने अपनी पुस्तक 'What is Sociology' में लिखा है कि "अर्थशास्त्र वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन तथा वितरण का अध्ययन है।" अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मुख्य रूप से समाज के आर्थिक पहलू से है। फेयरचाइल्ड ने लिखा है कि अर्थशास्त्र मनुष्य की उन क्रियाओं का अध्ययन करता है जो आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा भौतिक साधनों को प्राप्त करने के लिए की जाती है। अर्थशास्त्र तथा समाज के सम्बन्धों के बारे में कहा जाता है कि कोई भी आर्थिक सम्बन्ध सामाजिक दशाओं से स्वतन्त्र नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही आर्थिक सम्बन्धों का निर्माण होता है। यही कारण है कि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र अपनी उत्पत्ति के समय एक दूसरे के निकट थे। क्यूसने तथा एडम स्मिथ दोनो की

रचनाओं में दोनो विषयों में निकटता दिखाई गयी है जबकि जर्मन अर्थशास्त्री पूरी तरह से एक दूसरे को अलग रखने के समर्थक रहे हैं। बोटोमोर ने लिखा है कि इन दोनो विज्ञानों में निकटता का कारण समाजशास्त्र का विकास तथा अर्थशास्त्रीय अध्ययनों में इसका योगदान ही नहीं रहा है बल्कि स्वयं अर्थशास्त्र में होने वाले परिवर्तन भी रहे हैं।

आर्थिक घटनाओं के बारे में 'खेलो के सिद्धान्त' के प्रयोग के द्वारा फर्मो के व्यवहार के बारे में अधिक ज्ञान प्राप्त हो सका है जो सामाजिक क्रिया के अध्ययन में एक मॉडल का काम कर सकता है। इसके कारण अर्थशास्त्र और समाजशास्त्रीय समस्याओं के समाधान के लिए एक सामान्य उपकल्पना का निर्माण कर उस पर कार्य किया जा सकता है और इस प्रकार समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में एकता स्थापित हो सकेगी और समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के बीच निकट सम्बन्धों के बारे में कोई सन्देह नहीं रह पायेगा। आधुनिक समय में अधिकांश अर्थशास्त्रीयों ने स्वीकार किया है कि उन्होने समाजशास्त्रीय अवधारणाओं सामान्यीकरणों का प्रयोग अपनी आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में किया। आर्थिक नियोजन के जो कार्यक्रम

चल रहे है उनका निर्माण सामाजिक आवश्यकताओं तथा सामाजिक सहयोग पर निर्भर है।

2.7 समाजशास्त्र तथा इतिहास

इतिहास बीते समय की एक कहानी मात्र है जिसमें अध्ययनकर्ता राजा महाराजाओं की उन तारीखों और स्थानों का अध्ययन करता है जो समाज के लिए विशेष महत्व के हैं। आधुनिक युग में इतिहासकार उस सामाजिक पृष्ठभूमि का भी चित्रण करते हैं जिनमें यह घटना घटित हो रही है। इसी उद्देश्य के कारण अब हम कहने लगे हैं कि इतिहास तथा समाजशास्त्र एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इतिहास का दर्शन संसार की समस्त घटनाओं के विकास के बारे में ज्ञान दे सकता है। जिन्सवर्ग ने लिखा है कि कुछ विचारकों का मत है कि इतिहास के दर्शन को समाजशास्त्र कहा जाय क्योंकि समाजशास्त्र का जन्म इतिहास के दर्शन की प्रतिक्रिया में हुआ है फिर भी समाजशास्त्र इतिहास के दर्शन से भिन्न है।

बोटोमोर ने लिखा है कि इतिहासकार उस विषय सामग्री को प्रस्तुत करता है जिसका उपयोग समाजशास्त्री करता है। तुलनात्मक पद्धति जिसका प्रयोग समाजशास्त्र में होता है पूरी तरह से इतिहास पर आधारित है। इतिहासकार ही उन ऑकणों को दे सकता है जो ऐतिहासिक अध्ययन अथवा तुलनात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक है। इसके साथ – साथ इतिहासकार भी

समाजशास्त्र का उपयोग करता है कि किन संस्थाओं और सामाजिक कारकों के कारण कोई घटना घटित हुई है जिसका अध्ययन इतिहास के अन्तर्गत होता है। उस पर समाजशास्त्र ही प्रकाश डाल सकता है। समाजों के वर्गीकरण पर प्रकाश हम ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर ही करतें है। बोटोमोर ने लिखा है कि वर्तमान समय में बहुत से देशों में समाजशास्त्रीयों तथा सामाजिक इतिहासकारों के बीच सहयोग के तथा एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। फ्रांस में प्रकाशित पत्रिका ‘Annals" लम्बे काल से इतिहासकारों समाजशास्त्रीयों तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों का मिलन स्थल रही है। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड में अधिकतर नवीन रचनाओं में समाजशास्त्र तथा सामाजिक और आर्थिक इतिहास में परस्पर निकटता दिखाई देती है। जैसे 19वीं सदी के शहरों के ऐतिहासिक वर्णन तथा महायुगीन कृषक वर्ग की विशेषताओं अथवा 18वीं सदी के अभिजात वर्ग के लोगों तथा विभिन्न व्यवसायों के सामाजिक इतिहास का समाजशास्त्रियों द्वारा किया गया अध्ययन।

इतिहास और समाजशास्त्र मे मूल अन्तर यह है कि इतिहास सदैव ही निष्कर्षों से सम्बन्धित रहा है जबकि समाजशास्त्र सदैव ऐसा नहीं करता है। समाजशास्त्र महत्वपूर्ण घटनाओं के क्रम को जारी रखता है इतिहासकार के निष्कर्षों से ही समाजशास्त्री अपनी उपकल्पना को प्रारम्भ करता है। जहॉ तक अध्ययन पद्धति का सम्बन्ध है समाजशास्त्र हमेशा वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करता है जबकि इतिहास वर्णनात्मक विधि का भी उपयोग कर लेता है। इन भेदों के होते

हुए भी समाजशास्त्र तथा इतिहास दोनो के विकास तथा वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि दोनो में घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि इतिहास एक विशिष्टतापरक अथवा व्यक्ति प्रधान विषय है जबकि समाजशास्त्र एक सामान्यीकृत विषय है। इतिहास विवरणात्मक विषय है जबकि समाजशास्त्र विश्लेषणात्मक विषय है। इतिहास अद्वितीय तथा व्यक्ति का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र नियमित और बार–बार होने वाली घटनाओं का अध्ययन करता है। यदि अतीत को शताब्दियों में निरन्तर खुलने वाले वस्तु के रूप में मान लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि इतिहास की रूचि उसको बनाने वाले प्रत्येक धागे व सूत में होती है जबकि समाजशास्त्र की रूचि का विषय उसके द्वारा प्रदर्शित संरूपों में होता है

2.8 सारांश

विश्व के समस्त ज्ञान को सामान्यतया दो भागों में बॉटा जा सकता है

(1) प्राकृतिक विज्ञान – भौतिक, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान आदि।

(2) सामाजिक विज्ञान – यह दो भागों में बॅटा है

- सामान्य सामाजिक विज्ञान – इसके अन्तर्गत समाजशास्त्र आता है।
- विशिष्ट सामाजिक विज्ञान – इसके अन्तर्गत मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि विषय आतें हैं।

क्योंकि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है जिसमें यह समाज का अध्ययन करता है समाज का निर्माण प्रकृति के मूलभूत तत्वों से मिलकर होता है इस कारण इसका सम्बन्ध वातावरण एवं पर्यावरण में उपस्थित सभी विज्ञानों एवं विषयों से होता है जिसमें मानवशास्त्र प्रत्यक्ष रूप से आदिम समाजों से सम्बन्धित है जबकि समाजशास्त्र मुख्य रूप से आधुनिक वर्तमान समाज के अध्ययन से अपने को सम्बन्धित मानता है। मानवशास्त्र सुझाव नहीं देता जबकि समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए सुझाव भी प्रस्तुत करता है। समाजशास्त्र और मानवशास्त्र की अधिकतम अध्ययन वस्तुएं समान ही हैं। क्योंकि आदिम समाज, आधुनिक समाज और सभ्यता से प्रभावित होकर परिवर्तित हो रही है। इसी प्रकार समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में जहॉ समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करती है वहीं मनोविज्ञान मानसिक एवं व्यवहारिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करती है। सामाजिक सम्बन्ध मानव व्यवहारों पर ही आधारित होतें हैं अतः यह सह सम्बन्धित है जिसका समर्थन मैक्स बेबर, डिल्थे, जिन्सवर्ग, नेडल आदि ने किया है। समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र में सामाजिक मूल्यों के अभाव में कोई भी सामाजशास्त्रीय निष्कर्ष कुछ भी महत्व नहीं रखता है। अतः समाजशास्त्र में नैतिकता व मानवीय मूल्यों जैसे दर्शन का अधिक महत्व है इसे टी0 वी0 बोटोमोर ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी' में स्पष्ट किया है। समाजशास्त्र व राजनीतिशास्त्र में राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र के एक अंग की भांति कार्य करता है। यह समाज को संगठित कर राज्य को संचालित करता है। समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मुख्य रूप से समाज के आर्थिक पहलू से है। सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही आर्थिक सम्बन्धों का निर्माण होता है। समाजशास्त्र तथा इतिहास में जिन्सवर्ग ने लिखा है कि समाजशास्त्र का जन्म इतिहास के दर्शन की प्रतिक्रिया में हुआ है फिर भी समाजशास्त्र इतिहास के दर्शन से भिन्न है।

इतिहासकार के निष्कर्षों से ही समाजशास्त्री अपनी उपकल्पना को प्रारम्भ करता है।

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) मैकाईवर और पेज – "सोसाइटी"

(2) एच0 एम0 जानसन – "सोशियोलोजी"

(3) इंकलेस – "ह्वाट इज सोशियोलोजी"

(4) आगवर्न एवं निमकाफ – "ए हैन्डबुक आफ सोशियोलोजी"

(5) के0 के0 मिश्र – "समाजशास्त्र के मूल तत्व"

2.10 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजशास्त्र का विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध बताते हुए प्रमुख अन्तरों को स्पष्ट करें।

प्रश्न 2 सामान्य सामाजिक विज्ञान, विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों से किस प्रकार समानता प्रदर्शित करता है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 इतिहासकार के निष्कर्षों से ही समाजशास्त्री अपने उपकल्पना को प्रारम्भ करता है स्पष्ट करें।

प्रश्न 2 समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र में अन्तर कीजिए।

प्रश्न 3 समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में अन्तर कीजिए।

प्रश्न 5 समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में अन्तर व्यक्त कीजिए।

इकाई–3

समाजशास्त्र की संकल्पना एवं विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा–

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 समाजशास्त्र की संकल्पना

3.3 समाजशास्त्रीय अध्ययन की विशेषताएं एवं महत्व

3.4 सारांश

3.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.6 परीक्षापयोगी प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे

- समाजशास्त्र की संकल्पना के अन्तर्गत विषय वस्तु
- विषय वस्तु का निर्धारक तत्व
- समाजशास्त्रीय अध्ययन की विशेषताएं एवं महत्व

3.1 प्रस्तावना

यूरोप का औद्योगिक क्रान्ति तथा फ्रांस की राजनैतिक क्रान्तियॉ वास्तव में समाजशास्त्र के उद्भव के लिए जिम्मेदार हैं। अगस्त कोंत के निकट रहने वाले लोगों (काकस) ने सर्वप्रथम समाज के मनोवैज्ञानिक पहलू पर बल दिया।

3.2 समाजशास्त्र की संकल्पना

समाजशास्त्र की संकल्पना से तात्पर्य विषय वस्तु के केन्द्र बिन्दु से है। समाजशास्त्र के विषय–वस्तु के निर्धारण में तीन मार्गों का सहारा लिया जाता है जैसा कि अन्य विषयों में भी होता है।

(1) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि – इसके अन्तर्गत विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि शुरू से विषय–वस्तु क्या रही होगी।

(2) वैज्ञानिक – विभिन्न अवलोकनो के पश्चात तथ्यों का संग्रह करके यह निष्कर्ष निकालना कि अध्ययन का वास्तविक उद्देश्य क्या है?

(3) विश्लेषणात्मक – सम्पूर्ण अध्ययन को विभिन्न उपभागों में बॉटनें के पश्चात यह निर्धारित करना कि किस भाग का अधिक महत्व है; और फिर महत्व के आधार पर विषय–वस्तु का निर्धारण करना।

आधुनिक समय में समाजशास्त्र की संकल्पना निर्धारित करते समय उन्हीं सामग्रियों को सम्मिलित किया जाता है जो उपरोक्त दूसरे और तीसरे मार्गों से प्राप्त की जाती है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हम ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को बिल्कुल नगण्य कर दें।

समाजशास्त्र के जनक अगस्त कोंत ने समाजशास्त्र में सामाजिक व्याख्याओं के पूर्ण रूपेण अध्ययन पर बल दिया। अध्ययन की सुबिधा के लिए कोंत ने समाजशास्त्र को दो भागों में विभक्त किया – (1) सामाजिक स्थितिशास्त्र (2) सामाजिक गतिशास्त्र। सामाजिक स्थितिशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था या संरचना में सम्मिलित विभिन्न भागों तथा प्रमुख संस्थाएं – आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि का अध्ययन किया जाता है। कोंत का 'सार्वभौमिक सामाजिक अन्तःसम्बन्ध' का सिद्धान्त समाज के पूर्णता के अध्ययन पर बल देता है। सामाजिक गतिशास्त्र के अन्र्तगत मानव समाज के प्रगति का अध्ययन किया जाता है। इसी के अन्तर्गत अगस्त कोंत ने विभिन्न समाजों के तुलनात्मक अध्ययन की बात कही।

अग्रणी विचारक हरबर्ट स्पेन्सर ने अपना मत व्यक्त किया कि समाजशास्त्र में विभिन्न सामाजिक इकाइयों के उद्भव और उनके आपसी सामंजस्य का अध्ययन समाजशास्त्र में होना चाहिए।

फ्रांसीसी विचारक ईमाइल दुर्खीम ने समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन पर बल दिया। उनका विचार था कि सामाजिक तत्वों का ज्ञान विभिन्न प्रक्रियाओं को समझने के लिए आवश्यक है। दुर्खीम के अनुसार 'सामाजिक तथ्य व्यवहार, विचार, अनुभव तथा क्रिया के वे पक्ष हैं जिनका अवलोकन वैषयिक रूप में सम्भव है और जो एक विशेष ढ़ंग से व्यवहार करने को बाध्य करते है। दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र के अध्ययन की इकाई सम्पूर्ण समाज है।

जर्मन विचारक मैक्स बेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र का केन्द्र बिन्दु माना है। मैक्स बेबर के अनुसार समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का निर्वाचनात्मक अर्थ व्यक्त करने का प्रयत्न करता है ताकि इसकी गतिविधि तथा परिणामों का कारण सहित विवेचना प्रस्तुत किया जा सके। मैक्स बेबर के अनुसार समाजशास्त्र में धर्म, वर्ग और जाति, नगर तथा कला आदि का अध्ययन होना चाहिए।

उपरोक्त चारो अग्रणी विचारकों के मतो के विवेचना के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि समाजशास्त्र के पाठ्य वस्तु के अन्तर्गत निम्नलिखित कारकों का समावेश होना चाहिए –

(1) विभिन्न संस्थानों का अध्ययन – परिवार से लेकर राज्य तक।

(2) संस्थाओं के आपसी सम्बन्धों का अध्ययन।

(3) समाजों में समानता तथा विभिन्नता के कारणों का अध्ययन।

(4) सामाजिक क्रियाओं व सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन।

(5) समाजशास्त्र में अग्रलिखित विधाओं का अध्ययन आवश्यक है।

(1) समाजशास्त्रीय व्याख्या –

- मानव संस्कृति और समाज।
- समाजशास्त्रीय स्वरूप
- सामाजिक विषयों में वैज्ञानिक विधि

(2) सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाईयॉ –

- सामाजिक क्रिया तथा सामाजिक सम्बन्ध
- मानवीय व्यक्तित्व
- समूह
- समुदाय (ग्रामीण और नगरीय)
- समितियॉ और संगठन
- जनसंख्या
- समाज

(3) मूलभूत सामाजिक संस्थाएं –

- परिवार और नातेदारी
- आर्थिक
- राजनैतिक एवं वैज्ञानिक
- धार्मिक
- शैक्षणिक
- मनोरंजनात्मक एवं कल्याणात्मक
- ललित कला और वाक्य शैली

विषय सम्बोध

(4) मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएं –

- विभिन्नीकरण तथा स्तरीकरण
- सहयोग व्यवस्थापन एवं सात्मीकरण
- सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति और युद्ध)
- संचार
- सामाजीकरण
- सामाजिक मूल्यांकन
- सामाजिक नियंत्रण
- सामाजिक विचलन
- सामाजिक समन्वय
- सामाजिक परिवर्तन

जिन्सवर्ग ने समाजशास्त्र के विषय–वस्तु को अग्रलिखित प्रकार से व्यक्त किया –

(1) **सामाजिक रूप शास्त्र –**

इसके अन्तर्गत दो कारकों का अध्ययन किया जाता है।

➢ जनसंख्या के घनत्व और गुणों का सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ने वाला प्रभाव।

➢ सामाजिक ढ़ाचे, सामाजिक समूहों और संस्थाओं के प्रमुख रूपों का अध्ययन।

(2) **सामाजिक प्रक्रिया –**

समाज में व्यक्तिओं के बीच निरंतर होने वाली अन्तःक्रियाओं के परिणाम स्वरूप निर्मित विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं जैसे सहयोग, संघर्ष, अनुकूलन, प्रतिस्पर्धा आदि का अध्ययन।

(3) सामाजिक नियंत्रण –

इसके अन्तर्गत नियंत्रण के विभिन्न साधनों जैसे कानून, परम्परा, धर्म, रूढ़ि, प्रथा आदि का अध्ययन किया जाता है।

(4) सामाजिक व्याधिकीय अथवा सामाजिक विघटन –

इसके अन्तर्गत सामाजिक अव्यवस्थाओं तथा विघटन के लक्षण, कारण तथा समाधान पर प्रकाश डाला जाता है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र की संकल्पना के अन्तर्गत जिन चीजों का अध्ययन करना चाहिए उनमें से प्रमुख है मानव स्वभाव, व्यक्तित्व का विकास, सामूहिक जीवन और सामाजिक विरासत। जिसके अन्तर्गत विभिन्न समूहों, समितियों, संस्कृति और संस्था विभिन्न संस्थाओं, सामाजिक नियंत्रण के साधन, सम्पूर्ण पर्यावरण, सामाजिक परिवर्तन तथा उसके कारक और सामाजिक विघटन के लक्षण कारण और विघटन के रोकथाम के उपाय आदि।

3.3 समाजशास्त्रीय अध्ययन की विशेषतायें एवं महत्व –

समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक समूहों, उनके अन्तः सम्बन्धों तथा उन विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जो किसी भी सामाजिक संगठन के लिए अनिवार्य तत्व है। समाजशास्त्र भी अन्य विज्ञानों की भांति विश्व के प्रमाणिक अनुभवों पर आधारित है। यह एक ऐसा विज्ञान है जो समूह, जीव और मानव व्यवहार के विभिन्न रूपों का तटस्थता के साथ अध्ययन करता है। इसके अन्तर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों और सिद्धान्तों को संकलित करने का प्रयास किया जाता है जो प्रमाणिक तथ्यों पर आधारित है तथा मानव समूह के कल्याणकारी निर्देशन और नियंत्रण के लिए सहायक है।[01]

(1) समाज के बारे में तार्किक ज्ञान–

समाज निरंतर सरल से जटिल होता जा रहा है। स्पेन्सर ने भी सामाजिक उद्‌विकास में इसी मत को स्वीकार किया है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अविष्कारों के कारण जहॉ एक ओर मानव जीवन की सुख–सुविधा में वृद्धि हुई है वहीं पर इसके कारण अनेक समस्याओं का उद्‌भव भी हुआ है। सम्पूर्ण पर्यावरण का वह भाग जिसे हम प्राकृतिक पर्यावरण कहतें हैं धीरें–धीरे नियंत्रित होता जा रहा है और उसका क्षेत्र संकुचित हो रहा है। दूसरी ओर नियंत्रित पर्यावरण का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। मानव समूह बहुत खुश है क्योंकि उसने सदियों से चले आ रहे अनियंत्रित पर्यावरण पर नियंत्रण प्राप्त किया है। मनुष्य प्राकृतिक दशाओं को नियंत्रित कर मनचाहे ढ़ंग से उसका उपयोग कर रहा है। यह सभी आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों का परिणाम 01– डा0 के0 के0 मिश्र, समाजशास्त्र के मूल तत्व, पृष्ठ–19 है। इन गतिविधियों का एक दूसरा पहलू भी है और वह है कि वैज्ञानिक अन्वेषणों के परिणाम स्वरूप तीव्र सामाजिक परिवर्तन के कारण सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण का रूप जटिल होता जा रहा है। समाज में अनेक ऐसी सामाजिक समस्याएं अवतरित हो रहीं हैं जिसका समाधान आज समाज की प्रमुख वरीयता है। पर्यावरण में प्रदूषण तथा पर्यावरण में असंतुलन की समस्या अधिक चिंतनीय है। परम्परागत समस्याएं जैसे निर्धनता, अपराध, युद्ध, दल बदल की नीति, केन्द्र ओर राज्य सरकारों में अनबन आदि भी मानव को चुनौती दे रही है। सदियों से चली आ रही सामाजिक प्रथाओं, परम्पराओं तथा संस्थाओं का महत्व कम हो रहा है। समाज में अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधनों का प्रभाव कम हो रहा है। संयुक्त परिवार प्रणाली तथा हिन्दू विवाह पद्धति आदि मानव निर्मित संस्थाओं में ह्रास हो रहा है। दूसरी ओर नगरों में व्यक्तिओं का अवैयक्तिक सम्बन्ध, भिक्षावृति, गरीबी, बाल और किशोर अपराध, साम्प्रदायिक दंगे, गन्दी बस्तियों का विस्तार आदि। अनेक सामाजिक समस्याओं में वृद्धि हो रही है। यही नही अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रजातीय संघर्ष विभिन्न राष्ट्रों में शीत युद्ध और अन्य

प्रकार के आर्थिक संघर्ष चल रहे हैं। यह सभी आधुनिक प्रगतिशील समाज के निरन्तरता में बाधक है। इन समस्त समस्याओं के कारणों का निदान समाजशास्त्र के अन्तर्गत किये जा रहे अध्ययनों से ही सम्भव है।

(2) समाज और सामाजिक समस्याएं –

ऊपर वर्णित समाजिक समस्याओं का निदान तभी हो सकता है जब समाज के उद्देश्यों और राजनैतिक नीतियों का निर्धारण उन सामाजिक तथ्यों पर हो जो सामाजिक मूल्यों से निर्देशित हो। इन तथ्यों की जानकारी भी समाजशास्त्रीय अध्ययनों से सम्भव है। मानव कल्याण, समाज कल्याण और कल्याण राज्य जो आज के सभी प्रगतिशील समाजों की आवश्यकता है समाजशास्त्रीय ज्ञान पर ही सम्भव हो सकता है।

(3) सामाजिक संतुलन –

विश्व के सभी समाज चाहे पूँजीवादी समाज हो, साम्यवादी हो अथवा प्रजातान्त्रिक उनका यह नारा है कि समाज में सामाजिक संतुलन अवश्य बना रहे। इसके लिए आवश्यक है कि समाज के विकास का कार्य नियोजन पर आधारित हो। सामाजिक लक्ष्यों को निर्धारित कर उनको प्राप्त करने का कार्य नियोजन पर आधारित होना चाहिए। यह कार्य भी समाजशास्त्रीय अध्ययन के पश्चात ही हो सकता है।

(4) सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक हल –

समाजशास्त्र एक ऐसे ज्ञान की शाखा है जिसके समाजशास्त्र एक ऐसे ज्ञान की शाखा है जिसके अन्तर्गत मानव जीवन तथा मानवीय व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। इसके विभिन्न सिद्धान्त प्रमाणिक तथ्यों पर आधारित हैं। फिर भी इसका अन्तिम उद्देश्य ऐसे ज्ञान की प्राप्ति से नहीं है जिससे सामाजिक समस्याओं का तुरन्त समाधान किया जा सके। इसका सम्बन्ध सामाजिक समस्याओं के कारणों में पर्याप्त विचार करने के पश्चात एक ऐसे क्रमबद्ध ज्ञान के आधार को निश्चित करना है जिस पर भविष्य में आने वाली सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक हल सम्भव हो सके। जिन्सवर्ग ने अपनी पुस्तक 'Sociology' में इस मत से सहमति व्यक्त की है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत मुख्य रूप से अध्ययन के दो पक्षों पर बल दिया जाता है – प्रथम ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर मानव तथा उसके पर्यावरण के अन्तः सम्बन्धों का क्रम और प्रभाव; और दूसरा सामाजिक पर्यावरण से अनुकूलन और तत्पश्चात सामाजिक प्रगति की मानवीय क्षमता।

(5) सामाजिक परिस्थितियों से सामन्जस्य –

आधुनिक समाज एक गतिशील समाज है। सामाजिक सम्बन्धों में नित्य नये–नये परिवर्तन देखने को मिलतें हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्तिगत सम्बन्धों में स्थिरता नहीं आ पाती। सामाजिक पर्यावरण से अनुकूलन तथा नियंत्रण पर्यावरण के क्षेत्र को बढ़ाने का कार्य सामाजिक ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। यदि व्यक्ति अपने को पर्यावरण से अनुकूलित नहीं कर पाता तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। व्यक्ति की प्रगति के लिए पर्यावरण से अनुकूलन आवश्यक है। समाजशास्त्रीय ज्ञान व्यक्तिओं को उसके नयी–नयी परिस्थितियों से अनुकूलन

करना सिखाता है। आधुनिक परमाणु युग में औद्योगीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों से सामंजस्य करना कोई आसान काम नहीं है। आज के युग में अपने को आधुनिक कहने वाले व्यक्ति की परीक्षा है कि वह किस प्रकार अपने पर्यावरण से सामंजस्य कर इस परीक्षा में सफल होता है। अपने पर्यावरण से अनुकूलन कर सामाजिक समस्याओं का स्फलतापूर्वक समाधान एवं निराकरण करने का दूसरा नाम ही जीवन है। इस ज्ञान की प्राप्ति भी समाजशास्त्र के द्वारा ही हो सकती है।

(6) अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण –

व्यक्तित्व के अन्तर्गत विभिन्न तत्वों का समावेश होता है। जैसे वंशानुगत गुण, व्यक्ति का सम्पूर्ण पर्यावरण और समाज की संस्कृति। अच्छे व्यक्तित्व निर्माण के लिए इन तीन तत्वों का उचित मात्रा में होना उचित व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। व्यक्तित्व के निर्माण में अहं 'Ego' को नियंत्रित करना आवश्यक होता है और दूसरी ओर अपनी संस्कृति के तत्वों को अपनाना भी जरूरी है। समाजशास्त्र इन दोनो उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता पहुँचाता है।

(7) औद्योगीकरण और समाजशास्त्र –

औद्योगीकरण के कारण लोगों के बीच का सम्बन्ध द्वैतीयक होते जा रहे है। जिस स्थान पर उद्योग लगता है वहाँ जनसंख्या का घनत्व बढ़ जाता है। औद्योगीकरण के कारण ही नगरीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। जिसकी अपनी सामाजिक समस्याएं है। नये औद्योगिक केन्द्रो पर जो व्यक्ति आते हैं वे सभी नवीन सामाजिक परिस्थितियों से सामन्जस्य नहीं कर पातें है। इस प्रकार के भी नवीन परिस्थितियों से सामंजस्य में समाजशास्त्रीय ज्ञान सहायक होते है।

(8) – समाजकल्याण और समाजशास्त्र –

समाजकल्याण का वैज्ञानिक अध्ययन 20वीं सदी में प्रारम्भ हुआ। औद्योगिक समाजों नें अनेक प्रकार की समस्याओं को जन्म दिया है जिनका समाधान हमारी परम्परागत संस्थाएँ नही कर पा रहीं हैं। इस स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि उन सामाजिक सेवाओं का समावेश किया जाय जो इन समस्याओं का समाधान कर सके। किन सामाजिक सेवाओं को चुना जाये इसके निर्धारण में भी समाजशास्त्रीय ज्ञान सहायक होता है।

(9) श्रम कल्याण और समाजशास्त्र –

किसी देश की समृद्धता तथा खुशहाली का निर्णय उस देश के श्रमिकों की स्थिति को देखकर किया जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था में जहॉ एक ओर पूँजीपतियों की स्थिति सुदृढ़ होती जा रही है वहीं दूसरी ओर श्रमिकों की स्थिति खराब होती जा रही है। औद्योगिक झगड़ों के कारण समाज में अशान्ति का वातावरण रहता है जिसके फलस्वरूप उत्पादन में भी कमी रह जाती है। उत्पादन में कमी के कारण राष्ट्रीय आय में कमी हो जाती है और तत्पश्चात प्रति व्यक्ति आय की कमी हो जाती है। समाज के लोग गरीब कहलाने लगते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययनों के पश्चात ही ऐसे सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिससे की पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच उत्पन्न आर्थिक असमानता को दूर किया जा सके। सरकार समाजशास्त्रीय अध्ययनों के आधार पर कारखाना अधिनियम का निर्माण करती है जो श्रम कल्याण के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कदम है।

(10) कल्याण राज्य और समाजशास्त्र –

आज सभी समाज अपने को कल्याण राज्य की संज्ञा देते हैं। कल्याण राज्य से तात्पर्य उस समाज से है जो अपने सभी नागरीकों को सर्वागींण उन्नति और विकास को अपना लक्ष्य बनाकर समानता के आधार पर उनके उचित न्यूनतम जीवन स्तर को बनाये रखने में सफल हो। कल्याण राज्य की विशिष्ट विशेषता सरकार के माध्यम से कार्य करते हुए समुदाय द्वारा उन साधनों को जुटाने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करना है जिससे उनके सभी सदस्य स्वास्थ्य, आर्थिक सुरक्षा और सभ्य प्राणी के न्यूनतम मानदण्डों तक पहुॅच सकें और अपनी क्षमता के अनुसार सामाजिक तथा सांस्कृतिक विरासत में भाग ले सकें। समाजवाद के माध्यम से यदि कल्याण राज्य की स्थापना की गयी तो वह अधिक स्थिर होगा। समाजशास्त्र के अध्ययन से ऐसे समाज के निर्माण में सहायता मिलता है।

(11) सामाजिक व्याधिकी और समाजशास्त्र –

आधुनिक समय में अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। औद्योगीकरण और नगरीकरण ने भी अपराधी गतिविधियों को बढ़ाया है। अपराध, किशोर अपराध, बाल अपराध, श्वेतवसन अपराध आदि के नियंत्रण के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता होगी।

(12) जनजातियॅा और समाजशास्त्र –

आज भी जनजातियॅा अविकसित हैं और उनके सामने अनेक समस्याएं हैं। भारतवर्ष के अनेक प्रदेश ऐसे हैं जहॉ जनजातियों की संख्या लाखों में हैं। आसाम, मध्यप्रदेश तथा भारतवर्ष के अनेक उत्तर पूर्वी राज्यों में जन जातियों की कुछ ऐसी समस्याएं हैं जिनका समाधान तुरन्त आवश्यक है। इनकी समस्याओं के समाधान के लिए निर्मित कार्यक्रमों के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान आवश्यक होगा।

(13) व्यवसाय और समाजशास्त्र –

व्यवसाय की दृष्टि से भी समाजशास्त्र का अपना विशेष महत्व है। अग्रलिखित पदों की नियुक्ति में समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को वरीयता दी जाती है

(1) श्रम कल्याण अधिकारी

(2) जन सम्पर्क अधिकारी

(3) प्रोवेशन और सुधार अधिकारी

(4) जनजाति कल्याण अधिकारी

(5) विकास खण्ड अधिकारी

(6) सामाजिक एवं व्यस्क शिक्षा अधिकारी

(7) परिवार नियोजन शिक्षक

रावर्ट वियर्स्टेड ने अपनी पुस्तक ''सोशल आर्डर'' में समाजशास्त्र के अग्रलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(1) यह एक सामाजिक विज्ञान है, न कि प्राकृतिक विज्ञान।

(2) समाजशास्त्र एक वर्णात्मक विज्ञान है, न कि आदर्शात्मक।

(3) समाजशास्त्र एक सैद्धांतिक विज्ञान है, व्यवहारिक विज्ञान नहीं।

(4) समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है, मूर्त नहीं।

(5) यह एक सामान्यीकृत विज्ञान है, विशिष्टवादी अथवा व्यक्तिवादी नहीं।

(6) समाजशास्त्र तार्किक के साथ–साथ अनुभाविक विज्ञान भी है।

(7) समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है, विशिष्ट विज्ञान नहीं।

3.4 सारांश

समाजशास्त्र की संकल्पना से तात्पर्य विषय–वस्तु की केन्द्र बिन्दु से है इसके निर्धारण में तीन कारकों का सहारा लिया जाता है। (1) – ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (2)– वैज्ञानिक (3) – विश्लेषणात्मक। दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र के अध्ययन की इकाई सम्पूर्ण समाज है। समाजशास्त्र में मुख्य रूप से समाजशास्त्रीय व्याख्या, सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाई, मूलभूत सामाजिक संस्थाएं मौलिक सामाजिक प्रक्रियाओं आदि विधाओं का अध्ययन आवश्यक है। समाजशास्त्रीय अध्ययनों की विशेषताओं में समाज के बारे में तार्किक ज्ञान जिसमें समाज सरल से जटिल होता जा रहा है। सामाजिक मूल्यों के निर्देशन में ही समाज के उद्देश्यों और राजनैतिक नीतियों का निर्धारण होना चाहिए, जिससे सामाजिक समस्याओं का समाधान हो सकता है। सामाजिक संतुलन के लिए विकास का कार्य नियोजन पर आधारित हो। सामाजिक संस्थाओं के वैज्ञानिक हल के माध्यम से इसके समाधान के सम्बन्ध में सुझाव भी दिया जा सकता है। व्यक्ति के प्रगति के लिए पर्यावरण से अनुकूलन आवश्यक है जिसकी शिक्षा हमें समाजशास्त्र देता है। एक अच्छे व्यक्तित्व के निर्माण के लिए वंशानुगत गुण, व्यक्ति का सम्पूर्ण पर्यावरण और समाज की संस्कृति इन तीनों तत्वों का उचित मात्रा में होना आवश्यक है। औद्योगीकरण के कारण नगरीकरण व जनसंख्या का बढ़ता घनत्व नये सामाजिक समस्याएं उत्पन्न करता है। औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न समस्याओं का समाधान हमारी परम्परागत संस्थाएं नहीं कर पा रही हैं इसके लिए भी समाजशास्त्रीय ज्ञान इसमें सहायक बनेगा। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर श्रमिकों के श्रम का उचित मूल्य व लाभ प्रदान करने के लिए कारखाना अधिनियम का निमार्ण हुआ। कल्याणकारी राज्य की स्थापना का मुख्य उद्देश्य समाज में रहने वाले सभी नागरिकों को सर्वागींण उन्नति और विकास के लक्ष्य तक पहुँचाना है जिसमें न्यूनतम जीवन स्तर को बनाये रखने का लक्ष्य रखा जाता है। समाज में बढ़ते अपराधीकरण पर नियंत्रण के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान उपयोगी है। समाजशास्त्रीय ज्ञान के आधार पर जन – जातियों की समस्याओं को जानकर उनका समाधान किया जाता है। समाज में अनेक प्रशासनिक पदों पर भी समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को वरीयता दी जाती है जो समाजशास्त्र के महत्व को व्यक्त करता है। रार्वट वियर्स्टेड ने अपनी पुस्तक 'सोशल आर्डर' में समाजशास्त्र को सामाजिक विज्ञान,

विषय सम्बोध

वर्णनात्मक विज्ञान, सैद्धान्तिक विज्ञान, अमूर्त विज्ञान, तार्किक विज्ञान, सामान्य सामाजिक विज्ञान के रूप में स्पष्ट किया है।

3.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) मैकाईवर और पेज – "सोसाइटी"

(2) एच0 एम0 जानसन "सोशियोलॉजी"

(3) आर्गवर्न एवं निमकाफ "ए हैण्डबुक आफ सोशियोलॉजी"

(4) इंकलेस "ह्वाट इज सोशियोलॉजी"

3.6 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजशास्त्र की संकल्पना से क्या तात्पर्य है इसकी विषय–वस्तु के निर्धारक तत्वों के महत्व की विवेचना करें।

प्रश्न 2 समाजशास्त्रीय अध्ययन की कौन–कौन सी विशेषताएं हैं इनके महत्व पर प्रकाश डालिए ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 समाजशास्त्र है।

(क) अमूर्त विज्ञान (ख) मूर्त विज्ञान

(ग) प्राकृतिक विज्ञान (घ) विशिष्ट विज्ञान

प्रश्न 2 समाजशास्त्र के विषय वस्तु के निर्धारण में आवश्यक तत्व –

(क) एतिहासिक पृष्ठभूमि (ख) वैज्ञानिक

(ग) विश्लेषणात्मक (घ) सभी

उत्तर– 1. (घ) 2. (घ)

इकाई–4

समाज के प्रकार–परम्परागत, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाज

इकाई की रूपरेखा–

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 समाज के प्रकार

4.3 विशिष्ट तथा सामान्य समाज

4.4 विशिष्ट तथा सामान्य समाज मे अन्तर

4.5 सामाजिक सम्बन्ध

4.6 समाज की परिभाषा

4.7 समाज की विशेषताएं

4.8 समाज के आवश्यक तत्व

4.9 परम्परागत, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाज में मूलभूत अन्तर

4.10 सारांश

4.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.12 परीक्षापयोगी प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे–

- समाज के प्रकार, अन्तर, परिभाषा, विशेषताएं, तत्व।
- सामाजिक सम्बन्ध।
- विशिष्ट तथा सामान्य समाज।
- परम्परागत, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाज।

4.1 प्रस्तावना

मैकाईबर और पेज ने अपनी पुस्तक ''सोसाइटी'' में लिखा है कि समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है। समाज का तात्पर्य सामाजिक सम्बन्धों के

जाल से है। अतः यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है।

4.2 समाज के प्रकार

समाजशास्त्रीयों के अनुसार जहॉ जीवन है वहॉ समाज है। जीवधारी दो प्रकार के होते हैं। (1) एक कोषीय जीवधारी और (2) बहुकोषीय जीवधारी। एक कोषीय जीवधारियों का स्वतन्त्र आस्तित्व नहीं होता, इसलिए हम उनके समाज का अध्ययन नहीं करते। बहुकोषीय जीवधारियों का चूँकि स्वतन्त्र आस्तित्व है अतः हम उनके समाज का अध्ययन करतें हैं।

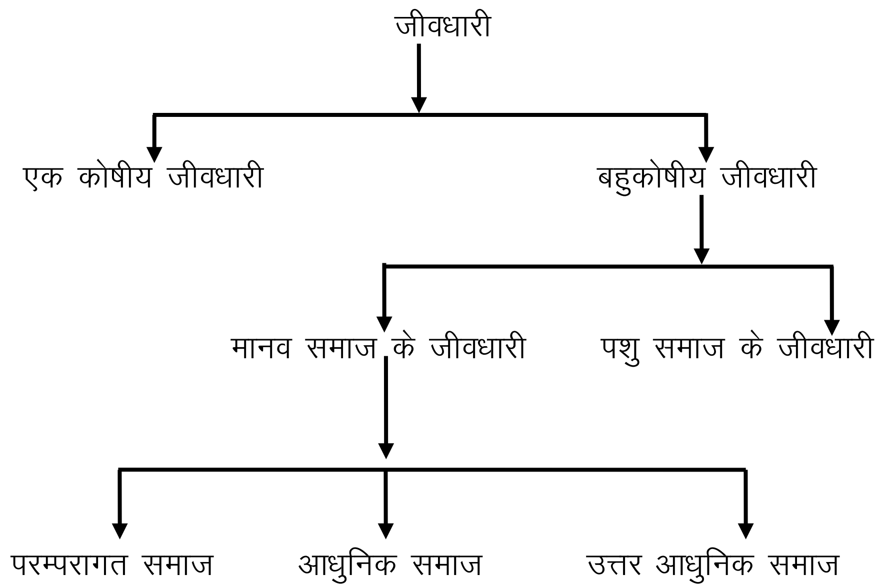

4.3 ‘विशिष्ट’ तथा ‘सामान्य समाज’

कुछ समाजशास्त्रीयों ने विशिष्ट समाज को ‘एक समाज’ तथा सामान्य समाज को ‘समाज’ से सम्बोधित किया है। ‘विशिष्ट’ अथवा एक समाज से तात्पर्य मनुष्यों के उस समूह से है जिनमें घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्धों के साथ–साथ भौगोलिक क्षेत्र का भी प्रतिबन्ध होता है जैसे भारतीय समाज, ब्रिटिश समाज, जर्मन समाज आदि। विशिष्ट समाजों की अपनी अलग–अलग विशेषताएं होती हैं। एक समाज अथवा विशिष्ट समाज की अग्रलिखित विशेषताएं होती हैं। (1) किसी विशेष प्रकार का सम्बन्ध (2) साधारणतया सीमित सामाजिक सम्पर्क वाला समूह (3) निश्चित पूर्वनिर्धारित भौगोलिक सीमा (4) समाज का मूर्त रूप (जनसंख्या) (5) सदस्यों के व्यवहारों में समानता।

जिन्सवर्ग ने एक समाज अथवा विशिष्ट समाज की परिभाषा करते हुए लिखा है कि एक समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किसी सम्बन्धों अथवा

व्यवहार के तरीकों द्वारा संगठित है और जो उन व्यक्तिओं से भिन्न है जो इन सम्बन्धों से नहीं बधें हैं अथवा जो उनसे भिन्न व्यवहार करते हैं।

रयूटर (Reuter) ने विशिष्ट समाज की व्याख्या करते हुए लिखा है कि एक समाज पुरूषों, स्त्रियों तथा बच्चों का वह स्थायी और निरंतर चलने वाला समूह है जिसमें लोग स्वतन्त्र रूप से अपने सास्कृतिक स्तर पर अपनी प्रजाति को जीवित और कायम रखने में समर्थ हो सके।

सामान्य समाज अथवा समाज की अवधारणा अधिक व्यापक है। इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था से है। जब हम समाज शब्द का प्रयोग करतें हैं तो हमारा उद्देश्य किसी एक विशेष भूभाग से न होकर सम्पूर्ण भूमण्डल से होता है। यही कारण है कि इसे सामाजिक प्रक्रियाओं का जाल कहा जाता है। समाज में व्यक्तिओं के बीच सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक आधार पर भी होता है। आवश्यक नहीं है कि सभी के बीच भौतिक सम्पर्क हो ही। अन्तः क्रिया में सहायक संचार सामाजिक सम्बन्ध को जन्म देगी।

समाज की विशेषताएं अग्रलिखित हैं –

(1) समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।

(2) सामाजिक सम्बन्ध के लिए जागरूकता आवश्यक है।

(3) सम्बन्ध अमूर्त होता है।

(4) क्षेत्र अधिक विस्तृत हो सकता है।

(5) सभी व्यक्तिओं के व्यवहारों में एकरूपता आवश्यक है।

(6) विभिन्न मनोवृतियों वाले लोग अन्तःक्रिया में भाग लेते हैं।

4.4 विशिष्ट समाज एवं सामान्य समाज में अन्तर

क्रम सं0	विशिष्ट समाज	सामान्य समाज
1	यह मूर्त जनसंख्या होता है इसके अन्तर्गत लोगों के किसी विशेष समूह का बोध होता है। जैसे भारतीय समाज	यह अमूर्त होता है, क्योंकि सम्पूर्ण भूभाग इसके अन्तर्गत आता है। साधारणतः तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही सम्बन्ध निर्मित किये जाते हैं।
2	व्यक्तिओं के आपसी सम्बन्ध विशेष प्रकार के होते है यही कारण है कि उनमें समानता पायी जाती है। इन्हीं व्यवहारों के आधार पर यह बतलाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति किस समाज का है।	समाजिक सम्बन्धों के सामान्य व्यवस्था को ही समाज कहा जाता है। यहॉ व्यवहार प्रतिमान निश्चित प्रकार का होना आवश्यक नहीं।
3	विशिष्ट समाज किसी निश्चित सीमित भूभाग को व्यक्त करता है।	समाज का भौगोलिक क्षेत्र विस्तृत होता है क्योंकि इसमें पूरे मानव प्रजाति को सम्मिलित किया जाता है।
4	विशिष्ट समाज का	समाज का संगठन अधिक जटिल हो

	संगठन अपेक्षकृत सरल होता है।	सकता है।
5	सदस्यों के व्यवहारों में समानता आवश्यक है।	सदस्यों के व्यवहारों में विभिन्नता पायी जाती है।
6	सदस्य यदि सभी शर्तों का पालन नहीं करते तो समाज का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है।	एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में गति तथा निरन्तरता पायी जाती है।

4.5 सामाजिक सम्बन्ध

समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा होता है। सामाजिक सम्बन्ध लोगों की अन्तःक्रियाओं के परिणाम स्वरूप निर्मित होता है। एक नवजात शिशु अपने परिवार में जन्म लेकर तथा बड़ा होकर सामाजिक गतिविधयों में भाग लेता है। शिशु यद्यपि असहाय होता है, स्वयं कोई काम नहीं कर सकता फिर भी उसे अपने माता पिता व परिवार के अन्य सदस्यों के व्यवहार का आभास होता है। शिशु का अपने परिवार के सदस्यों के व्यवहारों के प्रति झुकाव उसकी सामाजिकता का परिचायक है। वहीं शिशु बड़ा होकर अपनी प्रस्थिति के अनुसार भूमिका अदा करता है। जब समाज में सभी लोग अपनी अपनी प्रस्थितिओं के अनुसार भूमिका का सम्पादन करते हैं तो वे अपने व्यवहारों को व्यक्त करतें हैं साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि व्यक्तिओं की क्रिया तथा प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप निर्मित सम्बन्धों को हम सामाजिक सम्बन्ध कहतें है। सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए दो दशाओं का होना आवश्यक है प्रथम संचार तथा दूसरा सम्पर्क। व्यक्तिओं में अन्तः क्रिया हो इसके लिए आवश्यक है कि उनमें सम्पर्क स्थापित हो। सम्पर्क भौतिक भी हो सकता है तथा मनोवैज्ञानिक भी। सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण में भौतिक सम्पर्कों का कोई महत्व नहीं है यदि उनमें चेतनता का अभाव है। अतः कहा जा सकता है कि सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण में मनोवैज्ञानिक सम्पर्क आवश्यक है। जब सामाजिक सदस्यों के बीच सहयोगात्मक अन्तःक्रिया होती है तब तो सामाजिक सम्बन्ध अच्छे बनतें है। लेकिन जब असहयोगात्मक अन्तःक्रिया होती है तो समाज में नकारात्मक सम्बन्ध बनने प्रारम्भ हो जाते हैं तो कभी–कभी सामाजिक विघटन की स्थिति आ जाती है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है – सामाजिक इतिहास के तथ्यों से पता चलता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही समाज का कोई न कोई रूप अवश्य रहा होगा। इसका एक मात्र कारण यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है औा समाज के बाहर उसमें मनवोचित गुणों का विकास सम्भव नहीं है।

एंडरसन तथा पारकर ने लिखा है कि सभी साधारण व्यक्ति समाज में रहते हैं और इसी के अन्तर्गत अपने व्यक्तित्व का विकास करते है। ऐसे व्यक्ति जो समाज में जन्म लेते हैं शायद ही समाज के बाहर जीवित रह सकें और अपने संतुलित स्वभाव को बनाये रख सकें। महान दार्शनिक अरस्तु ने भी कहा था कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' मैकाईवर ने भी लिखा है कि यह विचार बराबर

व्यक्त किया गया है कि अकेले रहने में मनुष्य की भलाई नहीं है। मनुष्य अपनी सुरक्षा, सुविधा पालन–पोषण, शिक्षा, साज–सज्जा, अवसर और समाज द्वारा प्रदत्त अन्य अनेक निश्चित सेवाओं के लिए समाज पर ही निर्भर है। उसे अपने विचारों, स्वप्नों और महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यहॉ तक की शरीर और मस्तिष्क की अनेक बाधाओं को दूर करने के लिए भी समाज पर आश्रित रहना पड़ता है। समाज में जन्म लेना ही उसके लिए स्वयं समाज की पूर्ण आवश्यकता उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के सफल और व्यवस्थित जीवन यापन के लिए आवश्यक है कि वह किसी समाज का एक सक्रिय सदस्य हो। सक्रिय सदस्य से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो समाज द्वारा निर्धारित कार्य विधियों के अनुरूप व्यवहार करके सामाजिक विरासत में योगदान देता है।

4.6 समाज की परिभाषा

इंकलेस ने लिखा है कि समाज सबसे बड़ी सामाजिक ईकाई है उौर उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाजशास्त्र से है। मैकाईवर तथा पेज ने अपनी पुस्तक 'Society' में समाज को बड़े ही व्यापक दृष्टिकोण से परिमाणित किया है। उनके अनुसार समाज प्रथाओं तथा कार्य–प्रणालियों अनेक समूहों एवं विभाजनों की अधिकार सत्ता और पारस्पाकि सहायता तथा मानव व्यवहार के नियंत्रणों और स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है। इस निरन्तर जटिल एवं परिवर्तशील व्यवस्था को हम समाज कहते है। सामाजिक सम्बन्धों का यह एक जाल है और सदा बदलता रहता है।

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि समाज एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें प्रथाओं, कार्य प्रणालियों, अधिकार, सत्ता, पारस्परिक सहयोग, स्वतन्त्रता विभिन्न समूहों तथा नियन्त्रण के साधनों का समावेश होता है।

गिडिंग्स ने लिखा है कि समाज एक संगठन है और यह परस्पर सम्बन्धों का एक ऐसा योग है जिसके कारण उसके अन्तर्गत सभी व्यक्ति एक दूसरे के साथ जुड़े रहते है।

किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक 'Human Society' में लिखा है कि प्रत्येक प्रकार के समाज में एक प्रकार की संरचनात्मक व्यवस्था का विकास होता है जिससे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

4.7 समाज की विशेषताएं

समाजशास्त्रियों के समाज से सम्बन्धित विचारों का विश्लेषण करने से समाज की अग्रलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती हैं

(1) सामाजिक सम्बन्धों के लिए मनोवैज्ञानिक स्थिति आवश्यक है–

सामाजिक सम्बन्धों में निरन्तर कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ करतें है जो भी सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं उनके लिए मनोवैज्ञानिक स्थिति आवश्यक है। भौतिक वस्तुओं के बीच भी एक सम्बन्ध होता है लेकिन वह सम्बन्ध सामाजिक नहीं है क्योंकि उसमें जागरूकता का अभाव है अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि उनमें

मनोवैज्ञानिक स्थिति का अभाव है। एक मेज पर रखी पुस्तक एक दूसरे के बारे में जागरूक नहीं है। समाज का अस्तित्व वहीं होगा जहॉ विभिन्न सामाजिक प्राणी अपनी अन्तःक्रियाओं से अवगत होकर तथा पारस्परिक ज्ञान के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करेंगे।

(2) सामाजिक सम्बन्धों का विस्तृत क्षेत्र –

समाज निरन्तर एकरूपता से बहुरूपता की ओर अग्रसर होता रहता है। हमारी अन्तःक्रियाएं निरन्तर बढ़ती है क्योंकि समाज में जनसंख्या भी निरन्तर बढ़ती रहती है। समाज के विभिन्न पहलूओं जैसे आर्थिक, राजनैतिक तथा सास्कृतिक के आपसी सम्बन्धों पर दृष्टिपत करने से यह पता चलता है कि सामाजिक सम्बन्धों का यह क्षेत्र दिन प्रतिदिन एक नया रूप लेकर अवतरित हो रहा है। कभी– कभी किन्ही दो पहलूओं में सहयोग झलकता है तो कभी–कभी संघर्ष फिर भी सम्बन्धों का विस्तृत होना यह परिलक्षित करता है कि सहयोग की मात्रा अधिक है और तभी सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र बढ़ रहा है।

(3) सामाजिक सम्बन्धों की निरन्तरता –

मानव जीवन का प्रारम्भ समाज में होता है। एक शिशु अपने लालन पालन के लिए अपने मॉ बाप तथा परिवार के अन्य सदस्यों से सहयोग और सहानुभूति प्राप्त करता है। बड़ा होकर वह अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पुरा करता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र – आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक आदि में वह भाग लेता है। मनुष्य यह सभी कुछ अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आकर ही कर पाता है। अपने जीवन की रक्षा सुख–समृद्धि तथा अपने परिवार के अन्य सदस्यों के भरण पोषण के लिए व्यक्ति को सहयोगात्मक तथा असहयोगात्मक अन्तःक्रियाओं को करना पड़ता है। इन क्रियाओं को व्यक्ति सचेतन अथवा अचेतन किसी भी अवस्था में कर सकता है। कभी–कभी तो ऐसा भी होता है कि अन्तःक्रिया में भाग लेने वाले व्यक्ति पूरी तरह से एक दूसरे से परिचित भी नहीं होते।

(4) एक समाज में समानता और भेद दोनों पाये जाते हैं –

समाज में जिस प्रकार सहयोग और समानता आवश्यक है उसी प्रकार विभिन्नता भी आवश्यक है। आधुनिक समाज की दो महत्वपूर्ण विशेषताएं श्रम विभाजन और विशेषीकरण विभिन्नता की देन है। आदिम समाजों में समानता अधिक थी वहीं पर आज आधुनिक समाज में विभिन्नता अधिक देखने को मिलती है।

(5) समाजिक भिन्नता समानता के आधीन है–

समाज में जो भिन्नता दिखाई देती है उसका आधार भी सहयोग है। उदाहरण के रूप में समाज में श्रम विभाजन के सिद्धान्त को लेकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि समाज में यद्यपि विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार के कार्यों को करते हैं तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उनमें सहयोग नहीं है।

(6) समाज के लिए एक से अधिक व्यक्ति आवश्यक हैं–

कोई भी अकेला व्यक्ति समाज का निर्माण नहीं कर सकता सामाजिक अन्तःक्रियाऐ जो सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करती है उसके लिए अनेक लोगों की आवश्यकता होती है।

(7) समाज के अपने रीति–रिवाज तथा कार्य प्रणाली –

प्रत्येक समाज के अलग–अलग रीति–रिवाज तथा कार्य प्रणालियॉ होती हैं। भोजन का तरीका, बात–चीत का तरीका, रहन–सहन का तरीका सभी अलग – अलग होता है। सभी रीति रिवाजों का पालन समाज के सदस्यों के लिए अनिवार्य है। सामाजिक व्यवस्था तथा संगठन को बनाये रखने के लिए इन कार्य प्रणालियों का सुनिश्चित रूप आवश्यक है।

4.8 समाज के आवश्यक तत्व

क्रिग्सले डेविस ने सभी समाजों के लिए निम्नलिखित तत्वों को आवश्यक बताया है।

(1) जनसंख्या को बनाये रखना –

सभी जीवधारी अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साथ–साथ रहतें हैं। जीवधारियों के समूह में आकर रहने से तात्पर्य जनसंख्या को बनाये रखने से है। जनसंख्या को बनाये रखने के लिए अग्रलिखित तीन प्रकार के कार्य आवश्यक है।

- जनसंख्या के लिए खान–पान की व्यवस्था।
- आघात से सुरक्षा
- प्रजनन कार्य

(2) जनसंख्या के कार्यों का विभाजन –

समाज की समुचित व्यवस्था हो, समाज के कार्यों में गतिरोध न आये इसके लिए आवश्यक है कि समाज में श्रम विभाजन की व्यवस्था हो। आधुनिक युग की बढ़ती हुई मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी श्रम विभाजन आवश्यक है। विशेषीकरण जो आधुनिक समाज की एक प्रमुख विशेषता है श्रम विभाजन के द्वारा ही सम्भव हो पाता है।

(3) समूह की दृढ़ता –

किसी समूह की दृढ़ता उसके सदस्यों के सहयोग पर आधारित है। सदस्यों के बीच जितना अधिक सहयोग होगा उनका समूह उतना ही संगठित मिलेगा। यही कारण है कि सदस्यों को सहयोगात्मक अन्तःक्रिया के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

(4) **सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता –**

प्रत्येक समाज की सामाजिक व्यवस्था एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। सामाजिक व्यवस्था की निन्तरता के लिए यह आवश्यक है कि सभी समुदाय सामाजिक व्यवहार प्रतिमान के अनुरूप ही अपनी–अपनी भूमिकाओं का सम्पादन करें।

4.9 परम्परागत आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक समाज

पिछले पृष्ठों पर वर्णित समाज के आवश्यक तत्व एवं विशेषताएं सभी प्रकार के समाजों परम्परागत आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक पर समान रूप से लागू होते है।

जैसा कि नाम से स्वतः स्पष्ट है परम्परागत समाज पूरी तरह से प्रथा और परम्पराओं पर आश्रित रहती है जबकि आधुनिक समाज, समाज द्वारा निर्मित सामाजिक विधानों से अपने सदस्यों के व्यवहारों का निर्देशन और नियन्त्रण करता है।

उत्तर आधुनिक समाज में पुनः प्रथा–परम्परा के साथ–साथ सामाजिक विधानों का महत्व कायम रहता है। उत्तर आधुनिक समाज एक उपकल्पना मात्र है। अभी विश्व का कोई भी समाज पूरी तरह से आधुनिक नहीं हो पाया है। ऐसी स्थिति में उत्तर आधुनिक समाज की संकल्पना पश्चिम के कुछ लेखकों का एक दिवा स्वप्न है जो कब चरितार्थ होगा कहा नहीं जा सकता।

परम्परागत तथा आधुनिक समाजों में कुछ मूलभूत अन्तर अग्रलिखित है।

क्रम सं0	परम्परागत समाज	आधुनिक समाज	उत्तर आधुनिक समाज
1	प्रथा परम्परा की प्रधानता होती है।	समाजिक विधानों की प्रधानता होती है।	अन्धविश्वास तथा प्रथाएं पुनः प्रभाव में आतीं हैं यद्यपि सामाजिक विधानों का भी प्रभाव बना रहता है
2	परम्परागत समाज को बन्द समाज कहा जाता है।	आधुनिक समाज को खुला समाज कहा जाता है।	उत्तर आधुनिक समाज को खुला समाज कहा जाता है।
3	परम्परागत समाज मे सामाजिक गतिशीलता बहुत कम अंश की पायी जाती है।	आधुनिक समाज में अधिक अंश की गतिशीलता पायी जाती है।	उत्तर आधुनिक समाज में भी गतिशीलता की कल्पना की गयी है।
4	परम्परागत समाज की गतिशीलता क्षैतिज गतिशीलता कहलाती	आधुनिक समाज की गतिशीलता	उत्तर आधुनिक समाज में भी गतिशीलता पायी जाती है।

	है।	लम्बवत गतिशीलता कहलाती है।	
5	जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि कार्यों में लगा होता है।	जनसंख्या का अधिकांश भाग विभिन्न प्रकार के उद्योगों में कार्यरत रहता है।	उद्योगों की प्रधानता कायम रहती है।
6	परम्परागत समाज के लोग अपने जातिगत व्यवसायों को भी करतें हैं। भारतवर्ष की जजमानी व्यवस्था इसका एक उत्तम उदाहरण है।	सभी व्यवसाय औपचारिक होने के कारण वंशानुगत न होकर योग्यता के आधार पर बदलते रहते हैं।	नौकरी पेशे की महत्ता कायम रहती है।
7	जनसंख्या के घनत्व और समाज के आर्थिक साधनों में विषमता पायी जाती है।	जनसंख्या के घनत्व और आर्थिक संसाधनों में सामन्जस्य पाया जाता है।	समाज में आर्थिक संसाधनों की प्रचुरता की कल्पना की गयी है।
8	प्रति व्यक्ति आय कम होती है। यही कररण है कि लोगों के रहन–सहन का स्तर नीचा होता है।	प्रति व्यक्ति आय अधिक होती है इसलिए लोगों के रहन–सहन का स्तर भी उॅचा होता है।	उच्च रहन–सहन की कामना की जाती है।
9	परिवारिक आय का अधिक भाग भेजन और आवश्यक वस्तुओं पर ही खर्च हो जाता है।	आय का अधिक भाग विनियोजन में खर्च होता है यही कारण है कि धनी लोग अधिक धनी होते चले जाते हैं।	सभी की साधन सम्पन्न बनने की कामना होती है।
10	विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आधुनिक उपकरणों का बहुत कम प्रयोग।	विज्ञान और प्रौद्योगिकी द्वारा प्रदत्त उपकरणों का अधिकतम प्रयोग।	श्रेष्ठ प्रौद्योगिकी के उपयोग की कामना।

11	जन्मदर और मृत्युदर दोनो बहुत अधिक।	जन्मदर और मृत्युदर औसत है।	जन्मदर और मृत्युदर में संतुलन की कामना।
12	शिक्षा की अपर्याप्त व्यवस्था तथा साक्षरता प्रतिशत की कमी।	शिक्षा की उचित व्यवस्था और साक्षरता की अधिक दर।	शत–प्रतिशत साक्षरता की कामना।
13	समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति का निम्न होना।	समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति सन्तोषजनक है	स्त्रियों के श्रेष्ठ प्रस्थिति की कामना।
14	समाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन प्रभावकारी होते है। जीवन में धर्म की महत्ता अधिक होती है।	समाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों की महत्ता।	समाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों के प्रभावकारी परिणामों की कामना।
15	यातायात और संचार के साधनों का अपर्याप्त तथा अविकसित होना।	यातायात और संचार के साधनों का विकसित स्वरूप तथा उसकी सन्तोषजनक उपलब्धता।	आधुनिक संचार एवं यातायात के साधनों की कामना।
16	प्रदत्त प्रस्थिति महत्वपूर्ण होती है।	अर्जित प्रस्थिति की महत्ता होती है।	अर्जित प्रस्थिति के आधार पर व्यवहार की इच्छा।
17	विशेषीकरण की कमी	विशेषीकरण सम्भव।	चरम विशेषीकरण की कामना।
18	नौकर शाही का समाज में प्रारम्भिक स्वरूप।	नौकरशाही का विकसित स्वरूप।	विकसित नौकरशाही की कामना।

4.10 सारांश

समाजशास्त्रियों के अनुसार जहॉ जीवन है वहॉ समाज है एक कोषीय और बहुकोषीय दो प्रकार के जीवधारी पाये जाते हैं जिसमें मानव समाज बहुकोषीय के अन्तर्गत हैं। समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है। समाज से तात्पर्य सामाजिक सम्बन्धों के जाल से है।

विशिष्ट अथवा एक समाज वह समूह है जो घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्धों के साथ–साथ निश्चित भैगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत हो जैसे – भारतीय समाज, ब्रिटिश समाज आदि। वहीं सामान्य समाज अथवा समाज का सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था से है। इसका क्षेत्र एक विशेष भूभाग न होकर सम्पूर्ण भूमंडल है। यह अधिक व्यापक अवधारणा है। समाज अमूर्त है जिससें जागरूकता आवश्यक है इसका क्षेत्र विस्तृत होता है, विभिन्न मनोवृतियों के लोग अन्तःक्रिया में भाग लेते हैं।

सामाजिक सम्बन्ध व्यक्तियों की आपसी क्रिया तथा प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप निर्मित होता है। इसके निर्माण में प्रथम संचार तथा दूसरा सम्पर्क दो दशाओं का होना आवश्यक है। महान दार्शनिक अरस्तु ने कहा था कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" समाज में जन्म लेना ही उसके लिए स्वयं समाज की पूर्ण आवश्यकता उत्पन्न कर देता है। समाज में रहकर ही उसमें मनवोचित गुणों का विकास सम्भव है। इंकलेस ने समाज के बारे में कहा है कि समाज सबसे बड़ी सामाजिक इकाई है और उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाजशास्त्र से है। समाज एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें प्रथाओं, कार्यप्रणालियों, अधिकार, सत्ता, पारस्परिक सहयोग, स्वतन्त्रता, विभिन्न समूहों तथा नियंत्रण के साधनों का समावेश होता है जिससे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति रहती है।

समाज की प्रमुख विशेषताएं–

सामाजिक सम्बन्धों के लिए मनोवैज्ञानिक स्थिति आवश्यक है। क्योंकि इसका क्षेत्र विस्तृत होता है। सामाजिक सम्बन्धों में नियंत्रण आवश्यक है। एक समाज में समानता और भेद दोनो पाये जाते हैं, समाज में एक से अधिक व्यक्ति आवश्यक हैं जिससे वे रीति–रिवाज तथा कार्य प्रणालियों का सफल संपादन कर सकें जिससे संगठन व्यवस्था बनी रहे। समाज के प्रमुख आवश्यक तत्वों में जनसंख्या, कार्यों का विभाजन, समूह की बनी रहे। समाज के प्रमुख आवश्यक तत्वों में जनसंख्या, कार्यों का विभाजन, समूह की दृढ़ता, सामाजिक व्यवस्था की निरंतरता का होना आवश्यक है।

परम्परागत समाज में प्रथा, परम्परा की प्रधानता होती है जहॉ सामाजिक गतिशीलता बहुत कम होती है वहीं आधुनिक समाज में विद्वानों और व्ज्ञिान व प्रौद्योगिकी का अधिक महत्व होता है व गतिशीलता अधिक होती है जबकि उत्तर आधुनिक समाज की अवधारणा पश्चिम के कुछ विचारकों के द्वारा दिया गया जिसमें उन्होंने सामाजिक विधानों के साथ ही अन्धविश्वासों तथा प्रथाओं के पुनः प्रभाव में आने की बात कही है यहॉ गतिशीलता पायी जाती है।

4.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) मैकाईवर और पेज – "सोसाइटी"

(2) के0 के0 मिश्र "समाजशास्त्र के मूल तत्व"

(3) टी0 वी0 बोटोमोर "सोसियोलोजी"

(4) के0 डेविस "ह्यूमन सोसाइटी"

4.12 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजशास्त्र से आप क्या समझते हैं इसके निर्धारण में आवश्यक तत्वों एवं विशेषताओं का वर्णन किजिए।

प्रश्न 2 समाजशास्त्र के स्वरूपों का वर्णन करते हुए (समाज कितने प्रकार के होते हैं) परंपरागत, आधुनिक तथा उत्तर आधुनिक समाज में मूलभूत अन्तर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3 विशिष्ट समाज तथा सामान्य समाज को स्पष्ट करें एवं उनमें अन्तर स्पष्ट करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है विवेचना किजिए।

प्रश्न 2 समाज की प्रमुख विशेषता क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 परम्परागत समाज है।

(क) बन्द समाज (ख) खुला समाज

(ग) मिश्रित समाज (घ) आधुनिक समाज

प्रश्न 2 आधुनिक समाज में किसकी महत्ता होती हैं?

(क) प्रदत्त प्रस्थिति (ख) अर्जित प्रस्थिति

(ग) संयुक्त प्रस्थिति (घ) सभी की

प्रश्न 3 समाज का निर्माण होता है?

(क) सामाजिक सम्बन्धों से (ख) अन्तःक्रिया से

(ग) सामाजिक व्यवस्था से (घ) सभी से

उत्तर– 1. (क) 2. (ख) 3. (घ)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टंण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-101

समाज का अध्ययन

खण्ड – 2

समूह और संस्थाए

इकाई – 5	सामाजिक समूह की अवधारणाएँ, विशेषताएं एवं प्रकार तथा संदर्भ समूह	**55–70**
इकाई – 6	समिति एवं संस्था की अवधारणाएँ एवं विशेषताएं	**71–86**
इकाई – 7	परिवार और उसके प्रकार	**87–98**
इकाई – 8	विवाह एवं नातेदारी : प्रकृति एवं प्रकार	**99–112**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGSY- 101

परामर्श समिति

प्रो० के० एन० सिंह (अध्यक्ष) — **कुलपति,** उ0 प्र0 राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

डॉ० ए० के० गुप्ता — **कुलसचिव,** उ0 प्र0 राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो० के० के० मिश्र — प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग दी0 द0 उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर–273001

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. **डॉ० एम० एन० सिंह** – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
2. **डॉ० इति तिवारी** – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
3. **श्री रमेशचन्द्र यादव** – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

UGSY-101(N) – समाज का अध्ययन

1. **डॉ० संगीता पान्डेय,** विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, दी0 द0 उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
2. **श्री रमेशचन्द्र यादव,** शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
3. **डॉ० इति तिवारी,** पूर्व एसो० प्रोफेसर समाजशास्त्र, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
4. **डॉ० इन्द्रजीत मिश्र,** रीडर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र, भगवान महावीर पी. जी. कालेज, फाजिलनगर कुशीनगर।

2020 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021
ISBN- 978&93&83328&38&3
सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टंण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड–2 परिचय

इस खण्ड में समूह और संस्थाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है।

इकाई–5 सामाजिक समूह की परिभाषा करने के पश्चात विशेषताओं का वर्णन किया गया है। सामाजिक समूह के मुख्य प्रकार प्राथमिक एवं द्वैतीयक का विवरण प्रत्येक दृष्टिकोण से किया गया है। औपचारिक, अनौपचारिक तथा संदर्भ समूह का व्याख्या भी इस इकाई में मिलती है।

इकाई–6 समिति की परिभाषा तथा उसकी विशेषताएँ वर्णित हैं। संस्था की परिभाषा करने के पश्चात समिति और संस्था में अन्तर किया गया है।

इकाई–7 परिवार की व्याख्या करने के पश्चात उसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है।

इकाई–8 विवाह तथा नातेदारी की परिभाषा उसकी प्रकृति तथा विभिन्न प्रकारों की विस्तृत चर्चा की गयी है।

इकाई–5

सामाजिक समूह, अवधारणा, विशेषतायें एवं प्रकार (प्राथमिक, द्वितीयक, अनौपचारिक, औपचारिक तथा संदर्भ समूह)

इकाई की रूपरेखा

5.0 **उद्देश्य**

5.1 **प्रस्तावना**

5.2 **सामाजिक समूह की अवधारणा**

5.3 **सामाजिक समूह की विशेषतायें**

5.4 **समूह निर्माण के आधार**

5.5 **समूहों का वर्गीकरण एवं प्रकार**

- **5.5.1** प्राथमिक समूह की अवधारणा
- **5.5.2** प्राथमिक समूह की विशेषतायें
- **5.5.3** प्राथमिक समूहों का महत्व
- **5.5.4** द्वितीयक समूह की अवधारणा
- **5.5.5** द्वितीयक समूह की विशेषताये

5.6 **प्राथमिक समूह और द्वितीयक समूह में अन्तर**

5.7 **औपचारिक तथा अनौपचारिक समूह**

5.8 **संदर्भ समूह**

5.9 **सारांश**

5.10 **बोध प्रश्न**

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे –

- समूह के सदस्य परस्पर अन्तः सम्बन्धित होते हैं।
- समूह के हित एवं आदर्श सामान्य होते हैं।
- समूह के सदस्य एकता तथा सहानुभूति की भावना से बंधे होते हैं।
- प्रत्येक समूह में सामूहिक आदर्श एवं प्रतिमान पाये जाते हैं।
- समूह के सदस्य विचारों का आदान–प्रदान करते हैं।

5.1 प्रस्तावना

मनुष्य के लिए समूह से पृथक रहना संभव नहीं है। हम सभी किसी न किसी परिवार, पड़ोस, ग्राम, नगर, व्यावसायिक समूह, धार्मिक समूह आदि के सदस्य अवश्य होते है। जैविकीय आधार पर हम विभिन्न आयु–समूहों तथा लिंग के आधार पर पुरूष या स्त्री समूहों के सदस्य होते हैं। इसी प्रकार डॉक्टर, अध्यापक, इंजीनियर, व्यापारी, मजदूर साहित्यकार अथवा कलाकार के रूप में हम किसी न किसी समूह के सदस्य होते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज में अगणित समूह पाए जाते हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सभ्यता की दृष्टि से हम विकसित समाजों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। सभ्यता के विकास के साथ–साथ समाजों में समूहों की संख्या भी बढ़ती जाती है।

सामाजिकता के विभिन्न अंशो में पाये जाने के कारण ही कुछ व्यक्तियों का सम्बन्ध कम समूहों के साथ तथा कुछ या अधिक समूहों के साथ होता हैं। कुछ लोग अन्य की अपेक्षा सामूहिक जीवन में अधिक सक्रियता के साथ भाग लेते हैं। मनुष्य समूह में रहकर ही विभिन्न प्रकार के भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरण के साथ सफल समायोजन कर पाता है। समूह में ही उसकी सीखने की क्षमता का पूर्ण विकास होता हैं। सामाजिक जीवन के द्वारा ही व्यक्ति अपने पूर्वजों के संचित अनुभव प्राप्त करता हैं। समूह में रहकर ही व्यक्ति भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में काम करना सीख लेता हैं, विषम परिस्थितियों में भी साधारणतः नहीं घबराता हैं। इससे व्यक्तित्व के विकास में काफी सहायता मिलती है। स्पष्ट है कि समूह का व्यक्ति के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान हैं।

5.2 सामाजिक समूह की अवधारणा

सामाजिक समूह ऐसे व्यक्तियों का एक संग्रह हैं जिनके बीच किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता हैं। समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो एक–दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

जब भी दो या दो से अधिक व्यक्ति एक साथ मिलते और एक–दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, तो वे एक समूह का निर्माण करते हैं। समूह के निर्माण लिए व्यक्तियों के बीच सामाजिक सम्बन्धों को तो आवश्यक माना हैं, परन्तु सम्बन्धों की सीमा अथवा मात्रा का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है जो कि अत्यन्त आवश्यक हैं।

सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस संकलन को कहते हैं जिसमें (1) विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित सम्बन्ध होते हैं और (2) प्रत्येक व्यक्ति समूह और उसके प्रतीकों के प्रति संचेत होता हैं। अन्य शब्दों में एक सामाजिक समूह का कम से कम प्रारम्भिक ढांचा और संगठन (नियमों, संस्कारो सहित) होता हैं और उसके सदस्यों की चेतना का मनोवैज्ञानिक आधार होता हैं। इस प्रकार एक परिवार, गाँव, राष्ट्र, मजदूर संगठन अथवा राजनीतिक दल एक सामाजिक समूह है। समूह के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक हैः–

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना।

2. इनमें सामाजिक सम्बन्ध का पाया जाना। यह सम्बन्घ व्यक्तियों की बार–बार अतः–क्रिया से ही बनता है।

3. व्यक्ति के किसी समूह का सदस्य माना जाने के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं अपने को किसी समूह विशेष का सदस्य समझे, उसके प्रति 'हम की भावना' रखे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि समूह के अन्य सदस्य तथा दूसरे समूह भी उसे समूह विशेष का सदस्य समझे।

जब दो या दो से अधिक व्यक्ति पारस्परिक रूप से एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा किन्हीं सामान्य हितों के लिए एक–दूसरे के साथ अर्थ पूर्ण अन्तः क्रियाओं के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो एक सामाजिक समूह का निर्माण होता है।

5.3 सामाजिक समूह की विशेषताएं

विद्वानों ने सामाजिक समूह की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया हैं।

1. किसी भी समूह का निर्माण एक अकेले व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में गिलिन एवं गिलिन लिखते हैं,'' समूह की आधारभूत विशेषता दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्पर्क का होना है।"

2. कोई समूह, समूह के रूप में उसी समय तक कायम रह सकता हैं जब तक उसके सदस्यों में एकता की भावना पायी जाती हो। इसके अभाव में समूह टूट जाता हैं। इसलिए सदस्यों में एकता एवं 'हम की भावना' होना आवश्यक हैं।

3. समूह की सदस्यता ऐच्छिक होगी या अनिवार्य यह सामाजिक समूह के प्रकार पर निर्भर होगा। यदि सामाजिक समूह प्राथमिक हैं तो सदस्यता अनिवार्य होगी। यदि द्वैतीयक सामाजिक समूह है तो सदस्यता ऐच्छिक होगी।

4. समूह में सभी व्यक्ति समान पदों पर नहीं होते वरन् वे अलग–अलग प्रस्थिति एवं भूमिका निभातें हैं। अतः समूहों में पदों का उतार–चढ़ाव पाया जाता हैं। पदो के उच्चता एवं निम्नता के इस क्रम को ही संस्तरण कहते हैं।

5. प्रत्येक समूह में सामूहिक आदर्श एवं प्रतिमान पाए जाते हैं जो सदस्यों के पारस्परिक व्यवहारों को निश्चित करते हैं एवं उन्हें एक स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती हैं कि वह समूह के आदर्शों एवं प्रतिमानों जैसे प्रथाओं, कानूनों, लोकाचारों, जनरीतियों, आदि का पालन करे। प्राथमिक सामाजिक समूह में स्थायित्व पाया जाता हैं। यद्यपि कुछ समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के बाद ही समाप्त हो जाते हैं।

6. किसी भी समूह की स्थापना तभी सम्भव हैं जब उसके सदस्यों में समूह के उद्देश्यों, कार्य – प्रणाली, स्वार्थ – पूर्ति, नियमों, आदि को लेकर आपस में समझौता हों। प्रत्येक समूह की एक संरचना या ढांचा होता हैं अर्थात् उसके नियम, कार्य–प्रणाली, अधिकार, कर्तव्य, पद एवं भूमिकाएं, आदि तय होते हैं सदस्य उन्हीं के अनुसार आचरण करते हैं।

7. समूह में केवल व्यक्तियों का होना ही पर्याप्त नहीं हैं वरन् उनके बीच सामाजिक सम्बन्धों का होना भी अनिवार्य हैं। मैकाईवर एवं पेज ने पारस्परिकता एवं जागरूकता को समूह के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया हैं। एक समूह के सदस्यों मे परस्पर सहानुभूति एवं सहयोग की भावना पायी जाती हैं। एक समूह के सदस्य अपने विचारों का ही आदान–प्रदान नहीं करते वरन् एक–दूसरे के कष्ट में सहयोग एवं सहायता भी करते हैं। सहयोग एवं आदान–प्रदान से ही समूह के सदस्य अपने सामान्य हितों की पूर्ति कर पाते हैं।

5.4 समूह निर्माण के आधार

मानव की आवश्यकताएं, स्वार्थ, आदर्श एवं रूचियां असंख्य हैं। इनकी पूर्ति के लिए वह अनेकानेक समूहों का निर्माण करता हैं। सामाजिक समूह को जन्म देने वाली परिस्थितियों भी अनेक हैं। परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के बदलने के साथ–साथ समूह निर्माण के कारणों एवं आधारों में भी परिवर्तन आता रहता है। समूह निर्माण के आधारों मे हम सामान्य उद्देश्य, सामान्य निवास, आदि का उल्लेख कर सकते हैं। सोरोकिन, जिमरमैन तथा गेल्पिन ने समूह निर्माण के निम्नांकित आधारों का उल्लेख किया हैं :–

- रक्त सम्बन्ध अथवा एक ही पूर्वज मे विश्वास
- विवाह
- जादू–टोने या धर्म में समान विश्वास
- समान भाषा
- सामान्य रीति–रिवाज तथा रूढ़ियां
- एक ही भूमि का स्वामित्व
- पड़ोस
- सामान्य व्यवसाय
- सामान्य उत्तरदायित्व
- एक ही स्वामी के अधीन कार्य करना
- पारस्परिक सहयोग
- साथ–साथ रहकर कार्य करना।

मर्टन ने समूह निर्धारण के 26 आधारों का उल्लेख किया हैं जिन्हें आपने समूह की विशेषताएं माना हैं। इनके आधार पर विभिन्न प्रकार के समूह निर्मित होते

हैं। आपने बतलाया है कि इन लक्षणों के आधार पर कुछ इस प्रकार के समूह बन जायेंगे जो अन्य प्रकार के समूहों की सीमाओं का स्पर्श करेगें।

5.5 समूहों का वर्गीकरण

समाज में पाए जाने वाले विभिन्न–आधारों पर बने मानव समूहों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया हैं। वर्गीकरण के आधार के रूप में सदस्यों की संख्या, स्थायित्व, हम की भावना, आकांक्षा, प्रकार्य तथा सामाजिक सम्बधों की गहनता को विशेष महत्व दिया गया है।

- **<u>सदस्यों की संख्या के आधार पर</u>** –

  समूह छोटे भी हो सकते हैं तथा बड़े भी। एक समूह में सामाजिक सम्बन्ध किस प्रकार के होंगे–यह सदस्यों की संख्या पर ही निर्भर करता है। छोटे समूहों के माध्यम से ही समाज में व्यक्तियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय जानकारी मिलती है। होमन्स ने स्वयं पांच छोटे समूहों समूहों का अध्ययन किया। आपने बताया कि मनुष्य की समाज में ऐतिहासिक निरन्तरता केवल छोटे समूहो के रूप में है। व्यापार, गिल्ड्स, धर्म, वर्ग, राष्ट्र साम्राज्य, संस्कृतियां, सभ्यताएं सभी विद्यटित की गयीं, उन्हें नष्ट किया गया, लेकिन प्रत्येक सामाजिक विद्यटन के मध्य भी छोटे समूह अपने अस्तित्व को बनाए रख सके। हम किसी भी ऐसे समाज को नहीं जानते जिसमें ये नहीं पाये जाते हों। छोटे समूह विध्वंसकारी शक्तियों के बाबजूद भी अपने को जीवित रख सकें, यह सत्य इतना महत्वपूर्ण है कि हमें यह कहने को प्रेरित करता है कि छोटा समूह मौलिक सामाजिक इकाई है। इन विद्वानों ने सामान्य हितों के आधार पर बड़े समूहों के अस्तित्वों को स्वीकार किया है।

- **<u>स्थायित्व के आधार पर</u>** –

  समूहों को स्थायी एवं अस्थायी समूहों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ समूह सार्वभौमिक प्रकृति के होते हैं, जैसे परिवार, नातेदारी समूह आदि जिनकी हर समय आवश्यकता बनी रहती है। ये समूह स्थिर समूहों की श्रेणी मे आते हैं। दूसरी ओर कुछ अस्थिर समूह भी पाए जाते हैं, जैसे भीड़ एवं श्रोता समूह जो बहुत ही कम समय के लिए समूह के रूप में बने रहते हैं। कुछ समूह किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर बनाए जाते हैं और उद्देश्य कि पूर्ति होते ही वे स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

- **<u>हम की भावना के आधार पर</u>** –

  अन्तः समूह एवं वाह्य–समूह–यह वर्गीकरण समनर के द्वारा प्रस्तुत किया गया हैं। आपने इस आधार पर दो प्रकार के समूह बताए हैं–(1) अन्तःसमूह, तथा (2). वाह्य समूह। अन्तःसमूह को 'हम–समूह ' और वाह्य समूह को 'वे–समूह ' के नाम से भी जाना जाता हैं। एक अन्तःसमूह के सदस्यों में एकता दिखायी पड़ती है। एक अन्तःसमूह के सदस्य अपने समूह को सर्वश्रेष्ठ तथा अन्य समूहों का हीन मानते हैं। एक अन्तः समूह के सदस्य व्यवहार के सामान्य नियमों का पालन करते हैं और इन्हीं नियमों के द्वारा वे एक–दूसरे से बंधे रहते हैं।

  अन्तः समूह एवं वाह्य समूहों का कोई निश्चित विशिष्ट आकार नहीं होता हैं। एक अन्तःसमूह परिवार जितना छोटा एवं विश्व जितना विस्तृत भी हो

सकता हैं। एक अन्तःसमूह में वे सब लोग आ जाते हैं जिन्हें 'हम' सर्वनाम के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता हैं अर्थात जिन्हें हम अपना समझते हैं। हमारा परिवार, कक्षा, कालेज, देश हमारे लिए अन्तःसमूह के सदस्य एक दूसरे साधारणतः सहयोगी एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार करतें हैं परन्तु वाह्य समूह के सदस्यों के प्रति घृणा, द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता, भय तथा सन्देह तक की भावनाएं पायी जाती हैं। विभिन्न राजनीतिक दलों, श्रमिक संघों एवं राष्ट्रों में कई बार एक–दूसरे के प्रति इस प्रकार की भावनाएं दिखायी पड़ती हैं। ऑगबर्न तथा निमकॉफ का विचार हैं कि हमनें अपने अन्तःसमूह के सदस्यों के लिए सहानुभूति एवं सहकारिता की भावना पायी जाती हैं। जबकि उसके विपरीत वाह्य समूह के प्रति विरोधी भावना पायी जाती है। उनके प्रति भय, सन्देह, घृणा, आदि के भाव होते हैं।

राबर्ट बीरस्टीड ने समूह के बारे में लिखा हैं कि अन्तःसमूह और वाह्य समूह कोई वास्तविक समूह नहीं हैं। एक व्यक्ति 'हम' और 'वे' सर्वनामों का प्रयोग करता हुआ स्वयं इन्हें बना लेता हैं। इन समूहों के सम्बन्ध में वीरस्टीड ने दो महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया हैं। प्रथम, अन्तः समूह वाह्य समूह को दकियानूस और पिछड़ा हुआ समझता हैं। हमें अपने समूह के सदस्यों में अनेक अन्तर दिखायी पड़ते हैं, परन्तु वाह्य समूह के सभी सदस्यों को हम समान मानकर चलते हैं। अन्तःसमूह के सदस्यों के प्रति हमारे व्यवहार में अन्तर पाया जाता है जबकि वाह्य समूह के सदस्यों के प्रति हमार व्यवहार में समानता पायी जाती हैं। द्वितीय, वाह्य समूह के काल्पनिक एवं वास्तविक खतरे से अन्तःसमूह में एकता एवं सुदृढ़ता बढ़ती हैं। जब कभी किसी वाह्य समूह के खतरे का डर होता हैं तो अन्तःसमूह में एकता सुदृढ़ हो जाती हैं।

- **<u>प्रकार्यात्मक आधार पर</u>** –

व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भिन्न–भिन्न प्रकार के समूह निर्मित हो जाते हैं, व्यक्ति की शैक्षणिक, व्यावसायिक, राजनीतिक, बौद्विक, कलात्मक एवं मनोरंजनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति इसी आधार पर बने समूहों के माध्यम से होती है जैसे शिक्षण केन्द्र, व्यावसायिक संघ, राजनीतिक दल, क्लब, संगीत मण्डली, आदि।

- **<u>सामाजिक सम्बन्धों का आधार</u>** –

यह भी समूहों के वर्गीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार है। यहाँ सामाजिक सम्बन्धों की गहनता के आधार पर समूहों के वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से चार्ल्स कूले द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आपने सम्बन्धों की घनिष्ठता के आधार पर 'प्राथमिक समूह' की अवधारणा को प्रतिपादित किया। बाद के समाजशास्त्रियों ने प्राथमिक समूह से भिन्न विशेषताओं वाले समूह को द्वैतीयक समूह के नाम से सम्बोधित किया।

हितों की पूर्ति, भू–भाग, सदस्यों के सामान्य व्यवहार, प्रस्थिति प्रतिष्ठा, आर्थिक स्तर, अवसर की भिन्नता एवं शारीरिक लक्षण ,आदि को

आधार मानकर समूह का व्यापक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। वर्गीकरण के प्रमुख तीन आधार हैः

1. संयुक्त प्रादेशिक इकाईयों जैसे समुदाय, जनजाति, गांव, पडोस, आदि।
2. हित चेतन इकाईयों वाले समूह जिनका संगठन स्पष्ट नहीं होता जैसे अभिजात वर्ग, प्रतिस्पर्द्धा वर्ग, भीड़, आदि ।
3. हित संगठन जिनका स्पष्ट और निश्चित संगठन है। जैसे पड़ोस, मित्र–मण्डली, कीड़ा–समूह, क्लब, आदि। इस वर्गीकरण को तालिका द्वारा निम्न प्रकार से प्रकट किया गया हैः

समूह	**समूह के वर्गीकरण**
(1) प्रमुख वर्ग–प्रादेशिक एकता, सामान्य स्वरूप – समुदाय, विशिष्ट स्वरूप – जनजाति राष्ट्र, प्रदेश, नगर गांव पड़ोस, आदि।	(1) प्रमुख आधार–(अ) अधिकांश हितों की पूर्ति, (ब) निश्चित भू–भाग
(2)प्रमुख वर्ग– असंगठित हितों के प्रति जागरूक इकाईयां ।	(2) प्रमुख आधार–(अ)सदस्यों का समान्य व्यवहार, (ब) अनिश्चित सामाजिक संगठन
(क) सामान्य स्वरूप– सामाजिक वर्ग, विशिष्ट स्वरूप–जाति, वर्ग, अभिजात वर्ग।	(3) अतिरिक्त आधार–(अ) एक समूह से दूसरे समूह मे जाने की क्षमता, (ब) प्रस्थिति, प्रतिष्ठा, आर्थिक स्तर एवं अवसर में भिन्नता।
(ख) सामान्य स्वरूप–प्रजाति समूह, विशिष्ट स्वरूप–प्रजाति, रंग के आधार पर निश्चित समूह, राष्ट्रीय समूह।	(ख) अतिरिक्त आधार– समूह की उत्पत्ति, एक स्थान पर रहने की अवधि, शारीरिक लक्षण, आदि।
(ग) समान्य स्वरूप– भीड़ श्रोता–समूह, विशिष्ट स्वरूप–समान रूचि वाली भीड़।	(ग) अतिरिक्त आधार–(अ) अस्थायी हित, (ब) अस्थायी समूह।
(3) प्रमुख वर्ग–संगठित हितों के प्रति जागरूक इकाईयां	(3) प्रमुख आधार–(अ) हितों की निश्चित सीमा, (ब) निश्चित सामाजिक संगठन।
(क) सामान्य प्रकार–प्राथमिक समूह, विशिष्ट प्रकार–परिवार, क्लब, गोष्ठी	(क) अतिरिक्त आधार (अ) सदस्यता की निश्चित सीमा, (ब) सदस्यों के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध।
(ख) सामान्य स्वरूप–महासमितियां, विशिष्ट प्रकार–राज्य, चर्च, श्रमिक संगठन आदि।	(ख) अतिरिक्त आधार–(अ) तुलनात्मक दृष्टि से असीमित सदस्यता, (ब) निश्चित औपचारिक समाजिक संगठन (ब) अवैयक्तिक सम्बन्ध।

5.5.1 प्राथमिक समूह की अवधारणा

प्राथमिक समूह को परिभाषित करते हुए चार्ल्स कूले ने लिखा है कि प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग से है। वे अनेक अर्थो में प्राथमिक है।, परन्तु मुख्यतः इस बात में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मौलिक हैं। घनिष्ठ सम्बन्धों का परिणाम यह होता है कि एक सामान्य सम्पूर्णता में वैयक्तिकताओं का इस प्रकार एकीकरण हो जाता है। इस संपूर्णता के वर्णन के लिए अति सरल विधि 'हम' कहना है क्योंकि यह अपने में उस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक एकात्मीकरण को समाविष्ट करता है जिसके लिए 'हम' ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

चार्ल्स कूले की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि प्राथमिक समूहों मे आमने–सामने के सम्बन्धों तथा हम की भावना का पाया जाना आवश्यक है। किंग्सले डेविस का कहना है कि कई बार आमने–सामने के सम्बन्धों के पाए जाने के बाद भी प्राथमिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं हो पाता। आपने बताया है कि एक सिपाही अपने अफसर के आगे झुकता है, उसे सलाम करता है। इनके बीच आमने –सामने के अन्य उदाहरण देते हुए बताया है कि जब सेना का एक सिपाही किसी लड़की के प्रेम के सम्बधों से प्रेरित होकर उसके साथ लगातार पत्र–व्यवहार करता है तो आपने–सामने के सम्बन्धों के नहीं पाए जाने पर भी उनके बीच प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। आपने यह भी बताया है कि हम की भावना तो बड़े–बड़े द्वैतीयक समूहों में भी पायी जाती है। यहाँ हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि कूले ने प्राथमिक समूह की इन दो विशेषताओं के अलावा अन्य विशेषताओं पर भी जो दिया है। उदाहरण के रूप में, आपने सम्बन्धों की सम्पूर्णता, सम्बन्धों की घनिष्ठता तथा वैयक्तिक सम्बन्धों को प्राथमिक समूहों की आवश्यक विशेषताओं के रूप में माना है। यहाँ 'कोजर एवं रोजनबर्ग' का कथन बहुत महत्वपूर्ण है। इन विद्वानों ने बताया है कि आमने–सामने के सम्बन्ध तथा लघु आकार, आदि प्राथमिक समूह की संयोगवश विशेषताएं हैं। सामाजिक सम्बन्धो का घनिष्ठ होना एक ऐसी आधारभूत विशेषता है जिसके बिना प्राथमिक समूह का निर्माण हो ही नहीं सकता। स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्धों की घनिष्ठता प्राथमिक समूहों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है।

5.5.2 प्राथमिक समूह की विशेषताऍं

यद्यपि चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूह के लिए आमने –सामने के सम्बन्धों पर जोर दिया है, लेकिन आपने ऐसे सम्बन्धों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत नहीं की है। किंग्सले डेविस ने प्राथमिक समूह के निर्माण के लिए तीन आवश्यक भौतिक दशाओं का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैः

➢ **शारीरिक समीपता–**

प्राथमिक समूह के लिए डेविस शारीरिक समीपता को महत्व देते हैं ताकि व्यक्तियों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सके। व्यक्ति के एक–दूसरे के निकट होने; साथ–साथ उठने–बैठने, खाने, पीने, साथ–साथ पढ़ने तथा बातचीत करने से उनमें विचारों तथा भावनाओं का सरलता से आदान–

प्रदान हो पाता है। निकट सम्पर्क से व्यक्तियों में परिचय बढ़ता है तथा एक–दूसरे के प्रति आदर, सहानुभूति एवं सहयोग पनपते है। प्राथमिक सम्बन्ध के लिए केवल शारीरिक समीपता ही काफी नहीं है। रेल के एक डिब्बे में अथवा किसी बस में बहुत–से यात्री एक साथ यात्रा करते है, परन्तु वे एक प्राथमिक समूह के सदस्य नहीं माने जाएंगे। इसी प्रकार से मेले में अनेक लोगों मे शारीरिक निकटता पायी जाती है, परन्तु उनसे प्राथमिक समूह नहीं बन जाता। इसका कारण यह है कि इन लोगों मे प्राथमिक सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता, इन सम्बन्धों में घनिष्ठता का अभाव रहता है। एक–दूसरे के निकट होते हुए भी इन लोगों के सम्बन्धों में मानसिक दृष्टि से निकटता नही पायी जाती। शारीरिक निकटता प्राथमिक समूहों के निर्माण का अवसर प्रदान करती है, लेकिन अवसर का लाभ उठाना सम्भव हो सकेगा या नहीं, यह परिस्थिति पर निर्भर करता हैं। यह परिस्थिति संस्कृति के द्वारा परिभाषित होती है।

- **समूह का लघु आकार–**

समूह जितना छोटा होगा, सदस्यों में उतनी ही अधिक मात्रा में निकटता और घनिष्ठता होगी। यदि समूह का आकार बड़ा है तो उसके सभी सदस्य एक–दूसरे से नहीं मिल पाएंगे। उनमें अन्तःक्रिया की मात्रा कम होगी। समूह के बड़े आकार का होने पर व्यक्ति इसकी एक इकाई मात्र बनकर रह जाता है। विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में उसका महत्व घट जाता है तथा ऐसा समूह एक औपचारिक संगठन ही रह जाता है। सदस्य संख्या का आपसी सम्बन्धों, निर्णय लेने की प्रक्रिया तथा सामाजिक नियंत्रण पर काफी प्रभाव पड़ता है। जार्ज सिमेल ने प्रयोगों के आधार पर यह ज्ञात करने का प्रयत्न किया कि समूह में सदस्यों की संख्या घटने–बढ़ने का संबंधों में परिवर्तन लाने की दृष्टि से क्या प्रभाव पड़ता है। दो तीन या चार व्यक्तियों के किसी समूह में एक भी व्यक्ति के बढ़ जाने से समूह की प्रकृति में अन्तर आ जाता है।

- **सम्बन्धों की अवधि–**

सम्बन्धों की अवधि का घनिष्ठता के साथ सीधा सम्बन्ध पाया जाता है। सम्बन्धों का समय जितना लम्बा होगा, साधारणतः उतनी ही अधिक मात्रा में घनिष्ठता के बढ़ने की सम्भावना रहती है। सम्बन्धों मे घनिष्ठता का होना प्राथमिक सम्बन्धों की स्थापना के लिए आवश्यक है। निरन्तर व्यवहार से ही सदस्यों में एक–दूसरे के प्रति विश्वास और आत्मीयता के भाव पैदा होते हैं जो सम्बन्धों की घनिष्ठता के लिए जरूरी हैं।

प्राथमिक समूह के लिए शारीरिक समीपता, समूह का छोटा आकार तथा सम्बन्धों की लम्बी अवधि का होना आवश्यक है। इन तीनो विशेषताओं के एक साथ होने पर प्राथमिक समूह का विकास सरलता से हो पाता है इस सम्बन्ध में डेविस ने लिखा है कि भौतिक निकटता, छोटा, आकार और लम्बी अवधि घनिष्ठ सम्बन्ध के विकास के लिए अत्यधिक अनुकूल स्थितियां हैं।

5.5.3 प्राथमिक समूह का महत्व

प्राथमिक समूहों का महत्व प्राथमिक समूहों का व्यक्ति के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति व्यवहार के आधारभूत प्रतिमानों को परिवार के बाद क्रीड़ा–समूह, पड़ोस गांव और विद्यालय से अपनाता है। समूहों के माध्यम से व्यक्ति

मे अनेक गुणो का –जैसे सहानुभूति, सहिष्णुता, सहकारिता, कर्तव्य– परायणता, आदि का विकास होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पारसन्स ने लिखा है कि हमारी मानवीकरण की प्रक्रिया समूहों में ही होती है। यहाँ प्राथमिक समूह के महत्व को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकट किया जा सकता है।

➤ **गुणों का विकास–**

व्यक्ति के अनुभव तथा समाज के विकास की दृष्टि से प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ये समूह मानव जीवन का एक लघु रूप प्रस्तुत करते है। जन्म के पश्चात शिशु अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्ष (निर्माणकाल) में प्रत्येक व्यक्ति प्राथमिक समूह में ही अन्तःक्रिया के द्वारा व्यवहार के मौलिक प्रतिमान सीखता है। 'एली चिनोय' ने लिखा है कि व्यक्तित्व के मूल वत्व परिवार के वक्षस्थल में प्राप्त किए जाते हैं और मनुष्य को निरन्तर स्नेह, सुरक्षा और घनिष्ठता की आवश्यकता पड़ती है जिसका अनुभव वे बालकों के समान ही करते हैं। प्राथमिक समूह, विशेष रूप से परिवार, इन मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। ऐसा करने में, वह व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत सन्तुलन को बनाये रखने और अपनी अभ्यस्त सामाजिक भूमिका को अदा करने के योग्य बनाकर सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व में योग देता है। स्पष्ट है कि प्राथमिक समूह व्यक्ति मे अनेक मानवोचित गुणों के विकास में योग देते है।

➤ **मनोवैज्ञानिक सुरक्षा–**

प्राथमिक समूहों का महत्व इस दृष्टि से भी है कि वे अपने सदस्यों को मनोवैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान करते हैं। ऐसे समूह का प्रत्येक सदस्य भली–भांति जानता है कि संकट के समय उसे इसी समूह से सदस्यता मिल सकती है इस प्रकार व्यक्ति प्राथमिक समूह के माध्यम से अपने व्यक्तित्व में सुरक्षा–व्यवस्था को एकीकृत कर लेती है। परिवार, मित्र समूह तथा पड़ोसी एक बालक के व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इन समूहों में बालक को प्रेम एवं सहानुभुति प्राप्त होती है। विचारों के आदान–प्रदान का अवसर मिलता है। अधिकतर व्यक्ति बड़े समूहों में साधारणतः अपनें विचारों को स्पष्टः दूसरों के सामने नहीं रख पाते, परन्तु प्राथमिक समूहों के माध्यम से सदस्य अपने विचारों को स्पष्टः दूसरों के सामने रख पाते, हैं।

➤ **मनोरंजन प्रदान करता है–**

प्राथमिक समूहों का इस दृष्टि से भी महत्व है कि ये व्यक्ति के सम्मुख ऐसा वातावरण प्रस्तुत करते है जिसमें व्यक्ति का स्वस्थ मनोरंजन हो पाता है। बड़े समूह तथा आज के जटिल समाजों में तो व्यक्ति अपने आपको अपरिचितों के संसार में पाता है, वहां व्यक्ति औपचारिकता के सम्बन्धों में बंधा रहता है। उसका वास्तविक मनोरंजन तो प्राथमिक समूहो में ही होता

हैं। यहीं व्यक्ति सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर हंसी–मजाक और गप–शप में अपना समय निकाल सकता है। एक–दूसरे के सम्मुख अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकता हैं

- **सामाजिक प्रतिमानों के पालन एवं नियन्त्रण में योगदान–**

प्राथमिक समूह सामाजिक नियमों के पालन में भी अपूर्व योगदान देते है। सामाजिक नियंन्त्रण बनाए रखने की दृष्टि से यह समूह भूमिका निभाते है। व्यक्ति अपने परिवारजनों, मित्रों, साथियों और पडोसियों की दृष्टि में गिरना नहीं चाहता है अतः वह साधारणतः कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता जिसे लोग अनुचित समझते हों। प्राथमिक समूहों का भावनात्मक तथा घनिष्ट सम्बन्ध ही व्यक्ति को समूह के आदर्श मानदण्ड़ों के अनुरूप व्यवहार करने को प्रेरित करता है

- **व्यक्ति की कार्यक्षमता में वृद्वि–**

प्राथमिक समूह व्यक्ति की कार्यक्षमता को बढाने में अपूर्व योग दान देते है। ऐसे समूहों मे व्यक्ति सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर मानसिक दृष्टि से सन्तुष्टि का अनुभव करता है। यहां उसकी थकान दूर हो जाती है और वह पहले से अधिक उत्साहवर्धक काम करने को तैयार हो जाता है। शिल्स ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया है कि बड़े व्यापारिक समूहों में जब प्राथमिक समूह बन जाता है तो ये व्यक्ति के कार्य करने की क्षमता को सकारात्मक रूप से प्रभावित करते है।

- **व्यक्ति व समाज के बीच कड़ी–**

प्राथमिक समूह व्यक्ति और समाज के बीच प्रमुख कड़ी है। यदि यह कहा जाए कि सम्पूर्ण समाज के विकास का श्रेय प्राथमिक समूहो को ही है तो इसमें किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं समझी जानी चाहिए। प्राथमिक समूह व्यक्ति की प्रकृति के निर्माण में, उसके समाजीकरण एवं व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। चार्ल्स कूले का कथन यहॉ पूर्णतः उपयुक्त प्रतीत होता है कि प्राथमिक समूह व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों का निर्माण करने में मौलिक हैं।

- **व्यक्तित्व निर्माण में योग–**

प्राथमिक समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जन्म के समय बच्चा एक प्राणिशास्त्रीय इकाई मात्र होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा परिवार, पड़ोस, मित्र–मण्डली एवं अन्य प्राथमिक समूह उसके व्यक्तित्व का निर्माण कर उसे एक सामाजिक प्राणी बनाते है।

- **पशु प्रवृत्तियों का मानवीकरण–**

प्राथमिक समूह अपने सदस्यों की पशु प्रवृत्तियों का मानवीकरण करते है। कूले लिखले है,'' पशु प्रवृतित्यों का मानवीकरण ही सम्भवतः सबसे बड़ी सेवा है जो प्राथमिक समूह करते हैं। प्राथमिक समूह के घनिष्ठ तथा आन्तरिक दबाव के कारण व्यक्ति की पाश्विक (जैसे लालच, स्वार्थ, यौन, इच्छा, प्रतिशोध आदि) दब जाती है और वह सामूहिक हित के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है।"

➢ <u>आन्तरिक सन्तोष प्रदान करना</u>–

प्राथमिक समूह के सदस्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध एवं सहयोग पाया जाता है। पारस्परिक वार्तालाप, हंसी–मजाक, मनोरंजन, तर्क–वितर्क, विचार–विनिमय, स्नेंह प्यार, सहयोग, सहानुभूति, त्याग, आदि के कारण व्यक्ति को प्राथमिक समूह में मानसिक शान्ति एवं सन्तोष प्राप्त होता हैं।

➢ <u>सांस्कृतिक संचार</u>–

प्राथमिक समूह अपने सदस्यों को अपनी संस्कृति से परिचित कराते हैं तथा संस्कृति के तत्वों को अगली पीढ़ी को हस्तांतरित करते हैं। प्राथमिक समूह वास्तव मे भावनात्मक–मानसिक सुरक्षा के श्रोत हैं। वे एक बालक के मानवीय अन्तः–क्रियाओं को सीखने का स्कूल तथा कार्यों के आदान–प्रदान व साथ–साथ खेलने का स्थल हैं। वर्तमान समय में द्वैतीयक समूहों की संख्या में वृद्वि होती जा रही है फिर भी प्राथमिक समूहों का महत्व कम नहीं हुआ।

5.5.4 द्वैतीयक समूह की अवधारणा

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूह की अवधारण का उल्लेख किया है न कि द्वैतीयक समूह की। इतना अवश्य है कि प्राथमिक अवधारणा के कारण ही द्वैतीयक समूह की अवधारणा का विकास हो सका है। द्वैतीयक समूह सभ्य और विकसित समाज की देन है जहां सम्बन्धों मे आत्मीयता एवं घनिष्ठा का अभाव पाया जाता है तथा जीवन औपचारिकताओं से भरा होता है। सामाजिक जटिलता में वृद्वि ने द्वैतीयक समूहों का जन्म दिया है।

द्वैतीयक समूह वे समूह है जिनमें सदस्यों के बीच अवैयक्तिक सम्बन्ध पाए जाते है। व्यक्तिगत रूप में सदस्यों को जानना यह आवश्यक नहीं है। ऐसे समूहों मे शारीरिक निकटता भी सम्बन्धित, अस्थायी प्रकार के, विशेष हितों पर आधारित और हस्तान्तरणीय होते हैं। यहां एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे का हस्तान्तरण सुगमता से किया जा सकता है। ये समूह विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनाए जाते हैं,। उद्देश्यों के पूर्ण होने पर ये समाप्त हो जाते हैं। इन समूहो में उच्च तथा निम्न प्रकार की प्रस्थितियां देखने का मिलती है द्वैतीयक समूह के सदस्यों कें सम्बन्धों में स्थायित्व तथा निरन्तरता का अभाव होता है। ऐसे समूहों के सदस्य अपने आपको दृढ़ भावनात्मक सम्बन्धों में बंधा हुआ नहीं पाते हैं। इनमें स्नेह, सहानुभूति तथा दूसरों के हित को अपना समझने की प्रवृत्ति साधारणतः नहीं पायी जाती। स्कूल, कॉलेज, राजनीतिक दल, मजदूर संघ एवं राष्ट्र, आदि द्वैतीयक समूहों के ही उदाहरण हैं। इनमें विशेष नियमों के आधार पर सदस्यता प्राप्त की जाती है। द्वैतीयक समूहों का आकार और क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। इन समूहों की सदस्य संख्या हजारों, लाखों में हो सकती है संचार के माध्यम द्वारा सदस्यों में सम्पर्क स्थापित होता है। द्वैतीयक समूहों के सदस्यों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। इन समूहों में व्यक्ति को नहीं बल्कि उसके कार्य को महत्व दिया जाता हैं।

सभी द्वैतीयक समूह सम्पर्क समझौते की प्रकृति के होते हैं। इस प्रकार के सम्पर्क में सदस्य समझौते की शर्तो के अनुसार बंधे होते हैं। सदस्यों के व्यवहार में

औपचारिक नियम, विधियां एवं परम्पराएं पायी जाती है। इनके माध्यम से सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता हैं। सदस्यों के अधिकार व कर्तव्य समझौते की शर्तों द्वारा निर्धारित होते हैं। इन समूहों का संगठन योजनाबद्ध प्रकार का होता हैं।

5.5.5 द्वैतीयक समूहों की विशेषताएं

1. ये समूह जान–बूझकर कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठित किए जाते हैं।
2. इन समूहों में सदस्यों का एक–दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानना आवश्यक नहीं हैं। यहां संचार के साधनों द्वारा सदस्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित होते हैं।
3. इन समूहों में शारीरिक निकटता का अभाव पाया जाता हैं।
4. इनका आकार प्राथमिक समूहों की तुलना में काफी विस्तृत होता हैं।
5. ये समूह व्यक्ति के जीवन के किसी पहलू विशेष से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए ये व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष को ही साधारणतः प्रभावित कर पाते हैं।
6. इन समूहों मे सदस्यों के उत्तरदायित्व सीमित होते हैं।
7. इनमें सम्बन्ध संविदा या समझौते की प्रकृति के होते हैं, जो निश्चित नियमों एवं शर्तों के आधार पर बनते हैं।
8. सम्बन्धों में औपचरिकता पायी जाती हैं। यहां व्यक्ति के बजाय प्रस्थिति का महत्व ज्यादा होता हैं।
9. यहां सम्बन्धों में घनिष्ठता का आभाव पाया जाता हैं। यहां व्यक्ति के बीच 'छुओं और जाओ, (touch and go)के सम्बन्ध होते हैं।
10. ये समूह सदस्यों की विशिष्ट आवश्यकताओं को लेकर बनते हैं। अतः इसलिए स्वतः विकास नहीं होता। जैसे ही आवश्यकताएं बदलती है, उनके साथ ही इन समूहों में भी परिवर्तन आ जाता हैं।

5.6 प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूहों का अन्तर

प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूह की परिभाषा, विशेषताओं, प्रकृति, एवं महत्व, आदि से ज्ञात होता है कि दोनों में स्पष्ट भेद हैं। हम यहां इन भेदों को तालिका द्वारा इस प्रकार से प्रकट कर सकते हैं।

प्राथमिक समूह	द्वैतीयक समूह
1. आकार छोटा होता हैं।	आकार बड़ा होता हैं।
2. सदस्यों की संख्या कम होती हैं।	सदस्यों की संख्या अधिक होती हैं।
3. सदस्यों मे शारीरिक समीपता पायी जाती हैं।	सदस्यों में शारीरिक समीपता हो भी सकती हैं और नहीं भी।
4. सदस्यों में स्थायी सम्बन्ध पाए जाते हैं।	सदस्यों मे अस्थायी सम्बन्ध

5. सदस्यों में 'हम भावना'(we feeling)पायी जाती हैं।	होते हैं।
6. सम्बन्ध अनौपचारिक होते हैं।	सदस्यों में 'वे' भावना (They feeling) पायी जाती हैं।
7. सम्बन्ध स्वतः निर्मित होते हैं।	सम्बन्ध औपचारिक होते हैं।
8. सम्बन्ध सर्वागीण (Inclusive) होते हैं।	सम्बन्ध जान–बूझकर बनाए जाते हैं।
9. सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं।	सम्बन्ध विशिष्ट उद्देश्यों को लेकर बनाए जाते हैं।
10. ऐसे समूहों में नियंत्रण प्राथमिक एवं अनौपचारिक साधनों द्वारा होता हैं।	सम्बन्ध अवैयक्तिक होते है।
11. सभी लोगों के उद्देश्यों एक ही होते हैं अर्थात् उद्देश्य सादृष्य (like interest) होते हैं।	ऐसे समूहों में नियंत्रण द्वैतीयक एवं औपचारिक साधनों द्वारा होता हैं।
12. सम्बन्धों मे घनिष्टता एवं आत्मीयता पायी जाती हैं।	सदस्यों के बीच सामान्य हित (common interest) पाया जाता है।
13. सदस्यता अनिवार्य होती हैं।	
14. इनमें आमने–सामने (Face to Face) के संबंध पाये जाते हैं।	इनमें घनिष्टता एवं आत्मीयता का आभाव पाया जाता हैं।
	सदस्यता एच्छिक होती हैं।
	कधें से कधें का (shoulder to shoulder) सम्बन्ध पाया जाता हैं।

5.7 औपचारिक तथा अनौपचारिक समूह

द्वैतीयक समूह तथा संदर्भ समूह औपचारिक सामाजिक समूहों की विशेषता को धारण करते हैं जबकि अनौपचारिक समूह प्राथमिक सामाजिक समूह की विशेषता रखते हैं।

औपचारिक सामाजिक समूह दो या अधिक व्यक्तियों का ऐसा संगठन जो सामान्य हितों पर आधारित होता हैं। औपचारिक समूह सामान्यतया लिखित औपचारिक नियमों पर संचालित होते हैं। इन समूहों के सदस्य एक दूसरे को व्यक्तिगत तौर पर नहीं जानते। यद्यपि सभी सदस्यों का उद्देश्य समूह के लक्ष्यों को प्राप्त करना होता हैं। एक सरकारी कार्यालय इसका उदाहरण हो सकता हैं। अर्जित प्रस्थिति की इसमें महत्ता होती हैं। अनौपचारिक सामाजिक समूह दो या अधिक लोगों का एक संगठन है जो प्रथा, परम्परा पर मुख्य रूप से केन्द्रित होता हैं। परिवार इसका उदाहरण हो सकता हैं। इसमें प्रदत्त प्रस्थिति की महत्ता होती हैं।

औपचारिक तथा अनौपचारिक समूहों में अन्तर का आधार वही होता हैं जो प्राथमिक तथा द्वैतीयक समूहों का होता हैं जो पिछले पृष्ठों पर स्पष्ट किया जा चुका हैं।

5.8 सन्दर्भ समूह

व्यक्तित्व के निर्धारण में सामाजिक समूहों की प्रधानता का अध्ययन संदर्भ समूह का केन्द्र बिन्दु बना।

संदर्भ समूह का प्रयोग सर्वप्रथम एच. एच. हाइमेन ने 1942 ई. में किया। बाद में मर्टन और अन्य समाजशास्त्रियों ने इसका विस्तार किया। संदर्भ समूह गैर सदस्यता समूह है, जिससे व्यक्ति मनोवैज्ञानिक तौर पर अपना संबंध स्थापित कर उसके आदर्श, नियमों, मूल्यों आदि को अपनाता हैं। इसी समूह से व्यक्ति अपने आचरण, विचार एवं मनोवृत्ति को निर्मित करता हैं, यद्यपि वह वास्तव में उस समूह का सदस्य नहीं होता।

मर्टन ने लिखा है कि ''गैर सदस्यता समूह के प्रति झुकाव ही संदर्भ समूह सिद्धान्त को आधार प्रदान करता है।'' मर्टन ने आगे लिखा है कि लोग उन वर्गों से अपने को जोड़ते हैं या व्यक्त करते हैं जो उनका नहीं हैं।

सदंर्भ समूह वाह्य समूह है जिसे व्यक्ति मानसिक आधार पर अपना मान लेता है, और जिसके व्यवहार प्रतिमान, नियम, परिनियम, आदर्श और मूल्य को श्रेष्ठ समझ कर या तो अपना लेता है या उसे अपनाने का प्रयास करता हैं।

मर्टन ने अपनी पुस्तक ''दी अमेरिकन सोल्जर'' में लिखा है कि किसी व्यक्ति का संदर्भ समूह उसका अपना अन्तःसमूह हो सकता है जिसका कि वह वास्तव में सदस्य है, और दूसरा समूह भी हो सकता है जिसका कि वह सदस्य नहीं है।

पहली अवस्था में अपने ही समूह के सदस्य व्यक्ति के लिए अनुकरणीय हो सकते है जबकि दूसरी अवस्था में अन्य समूहों के सदस्य अनुकरण के लिए अपनाए जाते हैं।

मर्टन ने ''दी अमेरिकन सोल्जर'' में लिखा है कि एक कंपनी के सैनिक अपनी ही कंपनी के उन सैनिकों का व्यवहार प्रतिमान अपनाने का प्रयास करते हैं, जो वीरता के लिए पुरस्कृत हो चुके हैं।

मर्टन के अनुसार व्यक्ति के प्रत्याशित समाजीकरण के लिए संदर्भ समूह का यह प्रकार्य महत्वपूर्ण, है। यह प्रत्याशित समाजीकरण केवल खुले सामाजिक संरचना मे संभव होगा।

5.9 सारांश

समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संकलन है जो एक–दूसरे से अन्तःक्रिया करते है जिनके सामान्य उद्देश्य होता हैं तथा जो समान क्रियायें करते हैं। समूह का सार भौतिक निकटता नहीं अपितु अन्तः क्रिया की चेतना होती है। समूह ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जिनके बीच किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता हैं। समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो एक'–दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते है। प्राथमिक समूहों से तात्पर्य

ऐसे समूहो से हैं जिनकी विशेषता आमने–सामने के घनिष्ट सम्बन्ध और सहयोग से हैं। सामाजिक सम्बन्धों की घनिष्टता प्राथमिक समूहों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता हैं। द्वितीयक समूह वे समूह है जिनमें सदस्यों के बीच अव्यैक्तिक सम्बन्ध पाये जाते है। व्यक्तिगत रूप में सदस्यों का जानना यहाँ आवश्यक नहीं है। ये संबंध अनौपचारिक प्रकार के जीवन के किसी एक पक्ष से सम्बन्धित अस्थायी प्रकार के विशेष हितों पर आधारित और हस्तान्तरणीय होते है।

5.10 बोध प्रश्न

1. सामाजिक समूह का क्या अर्थ है? सामाजिक समूह की विशेषतायें लिखिए।
2. प्राथमिक समूह को परिभाषित कीजिए। आधुनिक भारतीय समाज में प्राथमिक समूह के क्या महत्व है?
3. द्वितीयक समूह का क्या अर्थ है? तथा इसकी विशेषतायें लिखिए।
4. प्राथमिक समूह एवं द्वितीयक समूह में अन्तर स्पष्ट कीजिए, तथा सामाजिक जीवन में इनके महत्व का वर्णन कीजिए।
5. विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों का संक्षिप्त रूप में व्याख्या कीजिए।
6. निम्नलिखित में कौन प्राथमिक समूह का उदाहरण है?

   (1) सिनेमाहाल (2) माल

   (3) बाजार (4) पड़ोस

   उत्तरः–6 (4) पड़ोस
7. निम्नलिखित में कौन द्वितीयक समूह का उदाहरण है?

   (1) कक्षा (2) परिवार

   (3) पड़ोस (4) गाँव

   उत्तरः–7 (1) कक्षा
8. निम्नलिखित में कौन संदर्भ समूह का उदाहरण है?

   (1) सेना की कंपनी (2) बाजार में कपड़ें की दुकान

   (3) बाजार (4) विवाह में सम्मिलित बाराती

   उत्तरः–8 (1) सेना की कंपनी

इकाई–6

समिति एवं संस्था – अवधारणा एवं विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा–

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 समिति की अवधारणा

6.3 समिति की विशेषताएं

6.3.1 समिति के प्रकार

6.3.2 समिति के कुछ उदाहरण

6.4 संस्था की अवधारणा

6.5 संस्था की विशेषताएँ

6.5.1 संस्था के कुछ आवश्यक तत्व

6.5.2 संस्थाओं के प्रकार

6.5.3 संस्था का विकास

6.5.4 संस्था के कार्य एवं महत्व

6.6 समिति एवं संस्था में अन्तर

6.7 हम समितियों के सदस्य होते हैं संस्थाओं के नहीं

6.8 सारांश

6.9 बोध प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जानेंगे–

- समिति का निर्माण कुछ व्यक्ति मिलकर करते हैं।
- समिति एक विचार पूर्वक स्थापित किया हुआ संगठन माना जाता हैं।
- ऐच्छिक सदस्यता पायी जाती हैं।
- समिति के सदस्यों के मध्य औपचारिक सम्बन्ध।
- समिति साध्य न होकर साधन होती हैं।

- संस्था की व्याख्या एवं विशेषताएँ।

6.1 प्रस्तावना

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और इस रूप में इसकी असंख्य आवश्यकताएं है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने और समुदाय में अपने जीवन को ठीक प्रकार से चलाने के लिए इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति कई तरीके अपना सकता हैं। वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों की सहायता प्राप्त कर सकता है, उनके साथ सहयोग कर सकता हैं। यह पारस्परिक सहयोग के आधार पर अन्य लोगो के साथ मिल–जुलकर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है, अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल हो सकता है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य साधारणतः इस तरीके को अपनाकर ही अपने हितों, उद्देश्यों या आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस विधि को अपनाकर वह समिति का निर्णाण करता है। यही से समिति की स्थापना होती है। इस विधि में सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे लोगो के साथ मिलकर, सहयोग करके किसी संगठन की स्थापना कर कार्य करना ही समिति को जन्म देना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं, संगठन बनाकर प्रयत्न करते हैं, तो ऐसे संगठन को ही समिति कहा जाता है।

6.2 समिति की अवधारणा

समिति एक संगठनात्मक समूह है जिसका निर्माण सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया गया है जिसका अपना आत्म–निर्भर प्रशासकीय ढांचा तथा कार्यकर्ता होते है। कभी भी संगठन का निर्माण किया जाता है तो उसकी गतिविधियों को चलाने के लिए कुछ पदाधिकारियों को चुनना या नियुक्त करना होता है। साथ ही उचित तरीके से कार्य चलाने हेतु कुछ नियम भी बनाने होते है। इन्ही से मिलकर प्रशासकीय ढांचा बनता है। किसी संगठन के पदाधिकारियों जैसे अध्यक्ष, सचिव, कोषाध्यक्ष तथा कुछ अन्य सदस्यों सें मिलकर समिति की कार्यकारिणी बनती है। इस प्रकार प्रत्येक समिति का एक प्रशासकीय ढांचा होता है। समिति को मनुष्यों के विचारपूर्वक बनाये गये एक ऐसे संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके एक या कुछ उद्देश्य होते हैं और साथ ही जिसकी अपनी एक कार्यकारणी भी होती है।

6.3 समिति की विशेषताएं

समिति की मुख्य विशेषताओं के निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है

1. समिति का निर्माण कुछ व्यक्ति मिलकर करते हैं क्योंकि व्यक्ति मूर्त प्राणी है, इसलिए समिति एक मूर्त संगठन है। व्यक्तियों के आभाव में किसी भी समिति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

2. समिति के कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं। निश्चित उद्देश्यों के अभाव में कोई भी समिति अपने कार्यो को ठीक से नहीं कर सकती।

3. समिति एक विचारपूर्वक स्थापित किया हुआ संगठन माना जाता है। जब कुछ लोग सामूहिक रूप से मिलकर अपने किसी उद्देश्य या कुछ उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं तो वे एक संगठन का निर्माण करते हैं जिसे समिति कहा जाता है। समिति का समुदाय की भांति स्वतः विकास नहीं होता, बल्कि इसे ''जान–बूझकर'' बनाया जाता है।

4. प्रत्येक समिति का एक निश्चित संगठन होता है। संगठन के आभाव में कोई भी समिति अपने उद्देश्यों को ठीक से प्राप्त नहीं कर सकती।

5. प्रत्येक समिति के कुछ नियम, उपनियम, आदि होते हैं जिनके माध्यम से सदस्यों के आचरण को निर्देशित एवं नियमित किया जाता है। ऐसे नियमों में सदस्यता सम्बन्धी योग्यता, सदस्यता शुल्क, कार्य–प्रणाली, आदि आते हैं। नियम लिखित या अलिखित दोनो ही प्रकार के हो सकते हैं। नियमों के विरूद्ध आचरण करने वालों को समिति दण्डित कर सकती है और यहां तक कि सदस्यता भी छीन सकती है। किसी भी समिति का सदस्य बनना या नहीं बनना व्यक्ति की स्वयं की इच्छा पर निर्भर करता हैं। वह अपने हित या रूचि के अनुसार किसी भी समिति का सदस्य बन सकता है और जब चाहे तब सदस्यता से त्यागपत्र भी दे सकता है। समिति का सदस्य बनने के लिए व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता।

6. समिति साधारणतः कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विचारपूर्वक बनायी जाती है और इन उद्देश्यों के पूरा होने पर उसे समाप्त कर दिया जाता हैं। उदाहरण के रूप में, शिक्षण–संस्थाओं में कुछ मागों को लेकर विद्यार्थी संघर्ष–समिति का गठन करते हैं और अपना आन्दोलन चलाते है। इन मांगों के पूरा हो जाने पर संघर्ष–समिति भंग कर दी जाती है। इसी दृष्टि से समिति की प्रकृति अस्थायी होती हैं।

7. समिति के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की प्रकृति औपचारिक होती है। व्यक्ति अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भिन्न–भिन्न समितियों की सदस्यता ग्रहण करता है और इन समितियों में सभी सदस्यों के साथ वह घनिष्ठता के सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता। इसका एक कारण तो यह है कि वह किसी उद्देश्य विशेष के कारण ही अन्य सदस्यों के सम्पर्क में आता है और वह भी कभी–कभी। दूसरा कारण यह है कि समय की सीमा के कारण सभी सबके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते।

8. कोई भी समिति साधारणतः कुछ उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र होती है, अपने आप में साध्य नहीं। जब कोई व्यक्ति किसी क्लब का सदस्य मनोरंजन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनता है तो क्लब उसके मनोरंजन का साधन है, न की अपने आप में साध्य। समिति व्यक्ति के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम होती है।

6.3.1 समिति के प्रकार

समिति और हित (उद्देश्य) के बीच गहरा सम्बन्ध है। सामान्य हितों या उद्देश्यों को लेकर समिति की जान–बूझकर स्थापना की जाती है। समिति के निर्माण का आधार व्यक्तियों के भिन्न–भिन्न प्रकार के हित है। हितों, रूचियों या उद्देश्यों की

भिन्नता के कारण ही अनेक प्रकार की समितियां देखने को मिलती है– सभी समितियों को प्रमुखतः निम्न रूप में बांटा जा सकता है –

- आर्थिक समिति (व्यापारिक समितियां, मजदूर संघ, व्यावसायिक समितियॉ आदि)
- राजनीतिक समिति (राजनीतिक दल)
- सांस्कृतिक समिति (धार्मिक समाज, रामकृष्ण मिशन)
- शैक्षिणिक समिति (समाजशास्त्र परिषद, वैज्ञानिक संघ, शिक्षा–मण्डल)
- मनोरंजनात्मक समिति (व्यायामशाला, क्लब, नाट्य–मण्डली, खेल–कूद, परिषद,)
- सेवा एवं सामान्य–कल्याण समिति (अनाथालय, हरिजन सेवक संघ, कानूनी सलाहकार समिति, आदिवासी कल्याण परिषद,)।

हितो के आधार पर समितियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया हैं:

हित	समितियॉ
अ. अविशेषीकृत	वर्ग एवं जातीय संगठन, जनजातीय तथा सरल समाजों के अर्द्ध–राजनीतिक संगठन, आयु–समूह और लिंग–समूह पितृसत्तात्मक परिवार,।
ब. विशेषीकृत (1) **द्वैतीयक** (सभ्यता सम्बन्धी या उपयोगितावादी) (अ) आर्थिक हित (ब) राजनीतिक हित (स) तकनीकी हित	**प्रकार**–व्यापारिक तथा औद्योगिक, वित्तीय तथा कृषि सम्बन्धित संगठन, व्यवसायिक एवं रोजगार सम्बन्धित संगठन, रक्षात्मक एवं बीमा समाज, दान एवं मानवोपकारी समाज। **प्रकार**– राज्य, नगरपालिका, दल, मण्डल, प्रचारवादी समूह। **प्रकार**– तकनीकी अनुसन्धान तथा विभिन्न किस्म की व्यवहारिक समस्याओं के समाधान हेतु समितियां।
(2) **मध्यस्थ शैक्षणिक हित**	**प्रकार**– स्कूल, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, अध्ययन–समूह, सुधार–गृह आदि।

(3) **प्राथमिक (सांस्कृतिक)**	
(अ) सामाजिक सम्पर्क या सहवास	**प्रकार**– क्लब, अन्य हितों की पूर्ति के लिए विभिन्न संगठन।
(ब) स्वास्थ एवं मनोरंजन	**प्रकार**– खेल–कूद, नृत्य, व्यायाम, आदि से सम्बन्धित समितियां।
(स) यौन तथा प्रजनन	**प्रकार**– परिवार।
(द) धर्म	**प्रकार**– चर्च, धार्मिक प्रचारवादी समितियां, मठ, आदि।
(य) सौन्दर्यात्मक हित, कला, संगीत, साहित्य आदि।	**प्रकार**– इनसे सम्बन्धित समितियां।
(र) विज्ञान एवं दर्शन	**प्रकार**– विद्धत (विद्धान) समाज

6.3.1 समिति के कुछ उदाहरण

समितियों के विभिन्न प्रकार पाये जातें हैं, जैसे आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिणिक सांस्कृतिक एवं मनोरंजनात्मक समितियॉ आदि। समिति के उदाहरणों के रूप में व्यापारिक समितियों, मजदूर संगठनों, व्यावसायिक समितियों, सहकारी समितियों, सुधार–आन्दोलन संगठनों, राजनीतिक दलों, पंचायतों, विभिन्न समाज–कल्याण समितियों, धार्मिक समाज प्रार्थना–समाज, कलात्मक समाज, संगीत मण्डल, व्यायामशाला, परिवार महिला–संगठन, साहित्य परिषद् आ दि का उल्लेख किया जा सकता है। यहां हमें यह भी ध्यान में रखना है कि एक ही समुदाय में अनेक समितियां पायी जाती है, जैसे गॉव एक समुदाय है, उसमें आर्थिक संघ, राजनीतिक संगठन, मनोरंजन–संघ, महिला संगठन तथा पंचायत आदि कई समितियां दिखाई पडती है। मैकाईवर ने बताया है कि समिति एक समुदाय नहीं है बल्कि समुदाय के अन्तर्गत ही एक संगठन है

6.4 अवधारणा

समिति और संस्था दोनों एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं और दोनों को एक–दूसरे के सन्दर्भ में ठीक प्रकार से समझा जा सकता है। समिति व्यक्तियों का समूह है जो एक या कुछ उदेश्य की पूर्ति के लिए बनायी जाती है, जबकि संस्था इन्हीं उद्देश्यों को पूरा करने हेतु नियमों एवं कार्य–प्रणाली की एक व्यवस्था है। संस्था को कार्य करने का समाज द्वारा मान्यता प्राप्त एक निश्चित ढंग भी कहा जा सकता है। जिन उद्देश्यों को लेकर समिति बनायी जाती है, उन्हीं की पूर्ति के लिए अपनायी जाने वाली कार्य–प्रणाली को संस्था कहा जाता है। उदाहरण के रूप में परिवार एक समिति है जिसका मुख्य लक्ष्य यौन इच्छाओं की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति, बालकों का पालन–पोषण और सदस्यों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करना है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए विवाह नामक संस्था पायी जाती है। प्रत्येक परिवार का एक संस्थात्मक रूप पाया जाता है। सदस्यों के संबंधों को

नियमित करने, प्रस्थिति के अनुरूप कार्यो का निर्धारण करने तथा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक – दूसरे के साथ सहयोग करने सम्बन्धी निश्चित नियम तथा तरीके पाये जाते है। इन्ही से मिलकर संस्था बनती है।

महाविद्यालय एक समिति और संस्था दोनों ही है। जब हम महाविद्यालय पर आचार्य, विभागाध्यक्षो, प्राध्यापकों, अन्य कर्मचारियों एवं विद्यार्थियों की दृष्टि से अर्थात् मनुष्यों के समूह के रूप में विचार करते हैं तो वह एक समिति है जिसके कुछ लक्ष्य हैं। इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति के लिए महाविद्यालय में शिक्षण की एक पद्धति अपनानी होती है, एक टाइम–टेबुल बनाना होता है, कई नियम एवं आचरण सम्बन्धी बातें निश्चित करनी पड़ती है, परीक्षा की किसी प्रणाली का सहारा लेना पड़ता है। ये सब मिलकर महाविद्यालय को एक संस्था का रूप प्रदान करते है।

6.5 संस्था की विशेषताएँ

संस्था की निम्नांकित विशेषताएं है :–

संस्था को सामाजिक रीति–रिवाजों का एक गुच्छा कहा है। जब जनरीतियां, प्रथाएं और रूढ़िया अधिक विकसित हो जाती हैं, तब इन्हें समाज स्वीकृति प्रदान कर देता है और इनसे सम्बन्धित कई नियम बन जाते है तो वे ही कालान्तर में संस्था का रूप ग्रहण कर लेतें हैं। प्रत्येक सांस्कृतिक व्यवस्था में अनेक संस्थाएं पायी जाती है। जिनके माध्यम से मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती हैं। प्रत्येक संस्था सांस्कृतिक व्यवस्था की एक मौलिक इकाई के रूप में कार्य करती हैं संस्थाओं का विकास एक लम्बी अवधि के बाद होता है और यह भी उस समय जब कार्य विशिष्ट तरीके अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर देते हैं। इसी कारण संस्थाएं काफी लम्बे समय तक चलती हैं, इनका शीघ्रता से विनाश नहीं होता। उदाहरण के रूप में, सैकड़ो वर्षों से चली आ रही जाति–व्यवस्था का आस्तित्व भारतीय समाज में आज भी बना हुआ है। इसी प्रकार विवाह की संस्था आज विश्व के प्रायः प्रत्येक समाज में देखने को मिलती हैं। प्रत्येक संस्था के एक या कुछ निश्चित उद्देश्य होते है। ये उद्देश्य प्रमुख मानवीय आवश्यकताओं से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के रूप में विवाह की संस्था के कुछ सुस्पष्ट उदे्दश्य है, यद्यपि विभिन्न समाजों में इनमें कुछ अन्तर अवश्य पाये जाते हैं। प्रत्येक संस्था का अपना एक प्रतीक होता है जो कि भौतिक अथवा अभौतिक हो सकता है। उदाहरण के रूप में, क्रास चर्च का और ओइम आर्य समाज का प्रतीक है। हिन्दुओं में मंगल कलश विवाह संस्था का प्रतीक है। संस्थाएं इन प्रतीकों के माध्यम से पहचानी जाती है। प्रत्येक संस्था की कुछ लिखित या अलिखित परम्पराएं होती हैं जिनके, द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार पर नियन्त्रण रखा जाता है वे परम्पराएं होती है जिनके द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार पर नियन्त्रण रखा जाता है। ये परम्पराएं लोगों के व्यवहारों मे अनुरूपता या समानता आने में भी योग देती है। परम्पराओं के अन्तर्गत प्रथाएं, जनरीतियों, नियम तथा धार्मिक संस्कार आदि आते है।

1. **एक विचार** – संस्था के लिए प्रथम आवश्यक तत्व एक विचार का किसी मनुष्य के मस्तिष्क में आना है। किसी आवश्यकता की पूर्ति के साधन मे रूप में यह विचार उत्पन्न हो सकता है। धीरे–धीरे विचार विभिन्न स्तरों से गुजरकर एक संस्था का रूप ग्रहण कर लेता है।

2. **विशिष्ट उद्देश्य** – प्रत्येक संस्था की उत्पत्ति का आधार कोई न कोई आवश्यकता होती है जिसके अभाव में इसका विकास सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि उद्देश्य के कारण ही प्रत्येक प्रकार की संस्था का विकास होता है।

3. **संरचना** – प्रत्येक संस्था की अपनी एक संरचना होती है जो कि अन्य समाजों में उसी प्रकार की संस्था की संरचना से भिन्नता लिए हुए होती है। उदाहरण के रूप मे, विवाह की संस्था सभी समाजों में पायी जाती है, परन्तु विभिन्न समाजों में इसकी संरचना में अन्तर हो सकता है। संरचना में नियम, विधिविधान तथा कार्य–प्रणाली, आदि आते है।

4. **अभिमति एवं अधिकार** – संस्था का एक आवश्यक तत्व समूह या समाज की स्वीकृति (अभिमति) है और इसी स्वीकृति के आधार पर संस्था को कुछ आधिकार या सत्ता प्राप्त होती है। इसी सत्ता के कारण संस्था मनुष्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित कर पाती है और उन्हें निश्चित प्रकार से व्यवहार करने का निर्देश देती है।

5. **स्थायित्व** – संस्थाएं साधारणतः स्थायी होती है क्योंकि इनका विकास मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में होता है और ये आवश्यकताएं काफी लम्बे समय तक बनी रहती है परन्तु स्थायित्य का यह तात्पर्य नही है कि संस्थाएं कभी परिवर्तित होती ही नहीं। जैसे ही मनुष्य की आवश्यकताओं में परिवर्तन आता है, उसके साथ संस्थाओं की कार्य विधि भी संशोधित होती हैं।

6. **प्रतीक** – प्रत्येक संस्था का अपना एक प्रतीक होता है।

7. **विरासत** – प्रत्येक संस्था का विकास काफी लम्बी अवधि के बाद होता है। संस्था समाज या समूह द्वारा स्वीकृत एक कार्य–प्रणाली के रूप में होती है। चूंकि संस्था मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन है और आवश्यकताएं बनी रहती हैं इसलिए संस्था पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती है।

6.5.2 संस्थाओं के प्रकार

जहां कुछ विशिष्ट हितों को लेकर समितियां बनायी जाती हैं, वहां उनके कार्य–संचालन की दृष्टि से कुछ संस्थाएं विकसित हो जाती हैं। प्रत्येक समिति का एक संस्थात्मक पक्ष होता है जिसके आभाव में कोई समिति अपने लक्ष्य की प्राप्ति

नहीं कर सकती। तालिका के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न प्रकार की समितियों के साथ–साथ उनसे सम्बन्धित संस्था भी होती हैं।

समिति एवं संस्था

समिति	विशिष्ट संस्थाएं	विशेष हित
परिवार	विवाह, घर, उत्तराधिकार	यौन–सम्बन्ध, घर, वंशावली, शिक्षण, व्यावसायिक तैयारी
महाविद्यालय	व्याख्यान, परीक्षा–प्रणाली, स्नातकत्व	शिक्षण, व्यावसायिक तैयारी
व्यापार	हिसाब–किताब की प्रणाली, संस्थापन, अंश पूंजी	लाभ
व्यापारिक–संघ (मजदूर संघ)	सामूहिक सौदेबाजी, हड़ताल, धरना।	नौकरी की सुरक्षा, मजदूरी–दरें, कार्य की दशाएं
चर्च (गिरजाघर) (धार्मिक संस्थाएँ)	सम्प्रदाय, धर्म, भ्रातृत्व, उपासना के तरीके	धार्मिक विकास
राजनीतिक दल	प्राथमिक इकाईयां, दल–यन्त्र, राजनीतिक मंच	कार्यालय, शक्ति, सरकारी नीति
राज्य	विधान, वैधानिक संहिता, सरकार के स्वरूप	समाजिक व्यवस्था का सामान्य नियमन।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहां विभिन्न प्रकार की समितियां पायी जाती हैं, वहां साथ ही विभिन्न प्रकार की संस्थाएं भी। विभिन्न संस्थाओं को मुख्य रूप से निम्नलिखित श्रेणियों में बॉटा जा सकता है :–

(1) समाजिक संस्थाएं (2) आर्थिक संस्थाएं (3) राजनीतिक संस्थाएं (4) धार्मिक संस्थाएं, (5) शैक्षणिक संस्थाएं (6) मनोरंजनात्मक संस्थाएं।

ये संस्थाएं मनुष्य के विभिन्न हितों या उद्देश्यों की पूर्ति के माध्यम के रूप में कार्य करती है। इनमें से प्रत्येक सरकार की संस्था के अन्तर्गत नियम, विधि–विधान और कार्य–प्रणाली की व्यवस्था आती है।

6.5.3 संस्था का विकास

अमरीकन समाजशास्त्री समनर ने संस्था के उद्विकास को भी प्रकट किया है। वे लिखते हैं, ''संस्थाएं जनरीतियों से प्रारम्भ होती है ये प्रथाएं बन जाती है। जब प्रथाओं में कल्याण का दर्शन जुड़ जाता है तो वे लोकाचारों कें रूप में विकसित होती है। इसके पश्चात् व्यवहार में लाये जाने वाले नियमों, निर्धारित कार्यों एवं उपकरणों द्वारा लोकाचार और भी निश्चित और विशिष्ट बन जाते है। इससे एक ढांचा निर्मित होता है और इस प्रकार एक संस्था पूर्ण हो जाती है।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी संस्था का प्रारम्भ मानव की आवश्यकता को पूरा करने के विचार से होता है और जब उस विचार को कार्य रूप में परिणित किया जाता है तो उसे हम क्रिया कहते हैं। किसी भी क्रिया को बार–बार दुहराने पर वह व्यक्ति की आदत बन जाती हैं। यही आदत जब सारे समूह की आदत बन जाती है तब उसे जनरीति या लोकरीति कहते हैं। जब जनरीति में भूतकाल का सफल अनुभव जुड़ जाता है और समाज उसको मान्यता प्रदान कर देता है तो वह प्रथा का रूप धारण कर लेती है। जब इस प्रथा में सामूहिक स्वीकृति और सामूहिक कल्याण की भावना जुड़ जाती है तब उसे रूढ़ि या लोकाचार कहते हैं और लोकाचारों के चारों ओर जब एक ढांचा या कार्य–प्रणाली विकसित हो जाती है तो वह एक संस्था का रूप धारण कर लेती है। संस्था के उद्विकास को हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते है।

आवश्यकतापूर्ति से सम्बन्धित एक उपाय	विचार या धारणा (Idea or concept) ↓
विचार + क्रिया की पुनरावृत्ति = व्यक्तिगत आदत	आदत (Habit) ↓
आदत +सामूहिक पुनरावृत्ति = जनरीति	जनरीति (Folkways) ↓
जनरीति +सामूहिक अनुभव+ मान्यता =प्रथा	प्रथा (Custom) ↓
प्रथा+समूह की स्वीकृति +जनकल्याणकारी भावना + बाध्यता = लोकचार	लोकचार या रूढ़ि (Mores) ↓
लोकचार + निश्चित नियम या कार्य–प्रणाली + एक निश्चित ढांचा = संस्था	संस्था (Institution)

मनुष्य की अनेक प्रकार की आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह उसमें कुछ विचार और साधनों को ढूंढने का प्रयत्न करता ही रहता है। इस प्रकार आवश्यकता की पूर्ति मानव का साधन ढूंढने हेतु विचार करने को प्रेरित करती है।

आवश्यकता पूर्ति से सम्बन्धित विचारों को जब व्यक्ति कार्यरूप में परिणत करता है तो उसे क्रिया कहते हैं। जब व्यक्ति किसी भी क्रिया या कार्य को बार–बार दुहराता है अथवा प्रयोग में लाता है तो उससे आदत का निर्माण होता है। इस प्रकार जब आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह किसी कार्य द्वारा सफलता प्राप्त करता है और भविष्य में भी वैसी ही आवश्यकता महसूस होने पर उसी कार्य को दुहराता है तो वह आदत बन जाती है। इस प्रकार आदत का निर्माण विचार और क्रिया को दुहराने से होता है।

जब लोग किसी एक तरीके द्वारा व्यक्ति को अपनी आवश्यकता पूर्ति में सफल होते हुए देखते हैं तो उस तरीके को समाज के अन्य लोग भी अपना लेते हैं। जब समाज के अनेक व्यक्ति उस तरीके की बार–बार पुनरावृत्ति करते हैं तो वह क्रिया समूह की आदत या जनरीति बन जाती है। इस प्रकार जनरीति समूह की आदत का ही दूसरा नाम है।

जब जनरीति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है और उसमें भूतकाल का सफल अनुभव जुडा होता है तथा उसे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाती है तो वह प्रथा का रूप धारण कर लेती है।

जब प्रथा में सामूहिक कल्याण की भावना जुड़ी होती है और उसे सारे समूह की स्वीकृति मिल जाती है तथा समाज के अधिकांश लोग उसका पालन करने लगते है तो वह रूढ़ि या लोकाचार का रूप धारण कर लेती है।

चूंकि रूढ़ियों और लोकाचारों को समाज के लिए कल्याणकारी माना जाता है, इसलिए उनकी रक्षा हेतु उनके चारों ओर कई छोटे–छोटे नियमों, उपनियमों, कानूनों एवं कार्य–विधयों का एक ढांचा खड़ा कर दिया जाता है, फलस्वरूप संस्था का जन्म होता है।

संस्था विचार, आदत, जनरीति, प्रथा एवं लोकाचारों से निर्मित एक व्यवस्थित संरचना है जिसका उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। संस्था नियमों की एक व्यवस्था अथवा कार्य–प्रणाली होती है।

संस्था के उद्विकास को हम विवाह संस्था के उद्विकास के उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। प्रारम्भ में मनुष्य को यौन–इच्छा पूर्ति की आवश्यकता महसूस हुई होगी, किन्तु उस समय इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए विवाह रूपी कोई संस्था नहीं थी। कोई भी पुरूष किसी भी स्त्री के साथ अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति कर लिया करता होगा, किन्तु इस प्रकार के व्यवहार से कई असुविधाएं व कठिनाइयां हुई होंगी। इस समस्या को हल करने के लिए मानव के मन में यौन सम्बधों की निश्चित व्यवस्था स्थापित करने का विचार उत्पन्न हुआ होगा। किसी व्यक्ति ने विवाह द्वारा यौन संबंध स्थापित किये होंगे तथा उसने अपने परिवारजनों के सम्बन्ध भी विवाह द्वारा ही कायम किये होंगे। इस आदत को सफल होते देख समूह के अन्य लोगों नें भी इसे अपनाया होगा और यह समूह की आदत जनरीति बन गयी

होगी। जब इन जनरीति को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित किया गया तो उसने प्रथा का रूप धारण कर लिया। विवाह की यह प्रथा सारे समूह की और वह लोकाचार या रूढ़ि अथवा लोकाचार की रक्षा हेतु कई नियम, उपनियम, कानून, कार्य–प्रणालियां जैसे मंगनी, तिलक, लग्न, बारात, दहेज, भोज, आदि का एक ढांचा निर्मित किया गया तो विवाह ने एक संस्था का रूप धारण कर लिया। यह विवाह संस्था सभी सभ्य समाजों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जो स्त्री–पुरूष के यौन सम्बन्धों को नियमित व नियन्त्रित करती है।

6.5.4 संस्था के कार्य एवं महत्व

1. **मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति एवं कार्य की दिशा –** प्रत्येक संस्था का विकास किसी न किसी मानवीय आवश्यकता को लेकर होता हैं। इसी कारण संस्थाओं को मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में देखा जाता है। जब संस्थाएँ आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य बन्द कर देती हैं तो उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यही बात स्पष्ट करते हुए ''मैकाईवर एव पेज'' ने लिखा है कि सामाजिक संस्थाएँ मनुष्य को पराजित करने के अपने अधिकार पर जीवित नहीं है, अपितु केवल उनकी सेवा करने के लिए हैं जब वे सेवा करना बन्द कर देती हैं तो कोई भी प्राचीनता और कोई भी पवित्रता उन्हें मरने से नहीं बचा सकती। शिक्षण –संस्था विवाह संस्था एवं परिवार नामक संस्था मनुष्य की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

2. **व्यक्तियों के कार्य को सरल बनाती है –** संस्था मानव व्यवहार के सभी आचरणों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करके यह स्पष्ट करती है कि व्यक्तियों को क्या कार्य करना है अथवा उनके कार्यो की दिशा क्या होनी चाहिए। इस प्रकार संस्था कार्य करने की एक निश्चित विधि या प्रणाली का निर्धारण कर देती है। व्यक्ति साधारणतः इसी प्रणाली के अनुरूप कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में संस्थाएं व्यक्तियों का मार्गदर्शन करती हैं, उनके कार्य को सरल बनाती हैं और उन्हें हर समय यह सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि उन्हें क्या करना और क्या नहीं करना है।

3. **व्यवहारों में अनुरूपता –** संस्था से सम्बन्धित एक निश्चित कार्य प्रणाली, कुछ नियम एवं परम्पराएं होती हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन्हीं का सहारा लेता है। जब एक समूह के लोग अपनी कुछ विशिष्ट संस्थाओं के नियमों एवं परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं तो उनके व्यवहारों में अनुरूपता या समानता होना स्वाभाविक हैं। अन्य शब्दों में, संस्थाएं व्यक्तियों के व्यवहारों में अनुरूपता उत्पन्न करने में योग देती हैं।

4. **व्यवहारों पर नियन्त्रण –** संस्थाएं सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख साधन है। प्रत्येक संस्था व्यक्तियों के कार्य की दिशा अथवा व्यवहार का एक तरीका निश्चित कर उन्हें उसी के अनुरूप कार्य करने का आदेश देती है। जो व्यक्ति किसी संस्था के अर्न्तगत मान्य व्यवहार प्रतिमानों के विरूद्ध आचरण करता है, उसे दण्डित भी किया जा सकता है। परिवार और जाति नामक संस्थाएं हजारों वर्षों से अनेक रूपों में अपने सदस्यों को नियन्त्रित करती रही है।

5. **संस्कृति की वाहक –** संस्था संस्कृति को एक पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। संस्थाओं के माध्यम से ही संस्कृति की रक्षा होती है, उसे स्थायित्व प्राप्त होता हैं। परिवार संस्कृति के हस्तान्तरण का एक प्रमुख साधन है। परिवार ही बच्चों को समाज की परम्पराओं, प्रथाओं, आचार–व्यवहार, खान–पान, धर्म, आदि से परिचित कराता है और संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करता हैं। समाज

की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं शैक्षिणिक संस्थाएं भी संस्कृति को हस्तान्तरित करने का कार्य करती हैं।

6. **प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण –** संस्था व्यक्ति को प्रस्थिति (पद) प्रदान करने और इससे सम्बन्धित कार्य (भूमिका) का निर्धारण करती हैं। विवाह–संस्था के द्वारा एक पुरूष को पति और एक स्त्री को पत्नी की प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा साथ ही इनसे सम्बन्धित कार्य भी निर्धारित होते है। एक महाविद्यालय में किसी को आचार्य की, किसी को व्यवस्थापक की, तो किसी को पुस्तकायाध्यक्ष की प्रस्थिति प्राप्त होती है और साथ ही इनसे सम्बन्धित कार्य भी।

6.6 समिति और संस्था में अन्तर

1.	समिति व्यक्तियों का एक संगठित समूह है।	संस्था नियमों, विधि– विधानों और कार्य–प्रणालीयों की एक व्यवस्था हैं।
2.	व्यक्तियों के समूह के रूप में समिति को देखा जा सकता है। इसलिए यह मूर्त है।	संस्था अमूर्त है क्योंकि यह नियमों, कार्य प्रणाली, आदि की व्यवस्था है जिसे देखा नहीं जा सकता ।
3.	समिति स्थापित की जाती है। यह बताया जा सकता है कि किस समिति की स्थापना किसने की ।	संस्था का धीरे–धीरे स्वतः ही विकास होता है और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी कब किसने उत्पत्ति की या विकास किया ।
4.	समिति अस्थायी होती है।	संस्था अपेक्षाकृत स्थायी होती है।
5.	समिति का अपना एक नाम होता है।	संस्था का अपना एक प्रतीक होता है जैसे चर्च का प्रतीक क्रास तथा किसी शिक्षण– संस्था का जलती हुई मशाल ।
6.	समिति व्यक्तिगत हित या कल्याण पर जोर देती है।	संस्था सामूहिक कल्याण पर जोर देती है।
7.	समिति के कुछ औपचारिक नियम होते है जो साधारणतः लिखित रूप में होते हैं।	संस्था के अलिखित–अनौपचारिक नियम–जनरीतियों, प्रथाओं, परम्पराओं और रूढ़ियों के रूप में होते हैं
8.	समिति की नियन्त्रण–शक्ति अपेक्षाकृत कमजोर या शिथिल होती है।	संस्था की नियन्त्रण–शक्ति अधिक होती है। संस्था द्वारा मान्य रीति–नीति के विरूद्व आचरण करना अनुचित और असामाजिक समझा जाता है।

9.	समिति विशेष हितों या उद्देश्यों की पूर्ति करती है।	संस्था सामान्यतः मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देती है, जैसे यौन, भोजन, आदि।
10.	हितों की भिन्नता के कारण समितियों के कई प्रकार पाये जाते है। समिति के हितों की पूर्ति के लिए किसी–न–किसी प्रकार की संस्था का होना आवश्यक है।	संस्थाएं विभिन्न समितियों के हितों की पूर्ति हेतु साधन के रूप में काम करती है।
11.	समिति एक पीढ़ी से दूसरी को हस्तान्तरित नहीं होती है।	संस्था एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है।
12.	मनुष्य समितियों के सदस्य होते हैं।	मनुष्य संस्थाओं के सदस्य नहीं हो सकते है क्योंकि संस्था नियमों और कार्य–प्रणालियों की व्यवस्था है।.

समिति और संस्था दोनों ही अपने आप से साध्य न होकर मानवीय हितों या उद्देश्यों की पूर्ति के माध्यम या साधन हैं।

6.7 हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्थाओं के नहीं

समिति और संस्था के उपर्युक्त विवेचन से यह भली–भांति स्पष्ट है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के। इस सम्बन्ध में भ्रम का मूल कारण यह है कि समिति और संस्था शब्दो का साधारणतः पर्यायावाची शब्दों में समिति और संस्था का भिन्न – भिन्न अर्थ है जैसा कि इनकी परिभाषाओं से स्पष्ट है। इन दोनों के अर्थ और विशेषताओं पर थोड़ा–सा ध्यानपूर्वक विचार करने से भ्रम का निवारण स्वतः ही हो जाता है। फिर भी विद्यार्थियों की सुविधा के लिए यहाँ उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करने की दृष्टि से कुछ तर्क दिये जा रहे हैं।

''हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि सस्थाओं के''। समिति सें मनुष्यों के एक संगठित समूह का बोध होता है, जबकि संस्था से एक कार्य–प्रणाली का। परिवार, महाविद्यालय, धार्मिक संगठन राजनीतिक दल, आदि व्यक्तियों के समूह के रूप में समितियां हैं और नियमों, विधि–विधानों और कार्यप्रणालियो के ढांचे के रूप में संस्थाएं। जब समितियां बनायी जाती हैं तो उनके कार्य–सचालन के कुछ नियम, विधि–विधान और कार्य–प्रणालियां भी विकसित हो जाती है जो संस्थाओं के नाम से जानी जाती हैं। मैकाईवर और पेज के अनुसार ''यदि किसी व्यवस्था पर संगठित–समूह के रूप में विचार करते हैं तो वह एक समिति है, और यदि कार्य–प्रणाली के रूप में तो वह संस्था है। समिति से सदस्यता का पता चलता है, संस्था से कार्य–प्रणाली या सेवा के तरीके या साधन का ।''

हम यहां कुछ उदाहरणों द्वारा उपर्युक्त कथन को स्पष्टतः समझने का प्रयत्न करेंगे। महाविद्यालय एक समिति और संस्था दोनों ही हैं। जब हम महाविद्यालय पर एक संगठित समूह के रूप में विचार करते हैं अर्थात प्राचार्य, विभागाध्यक्षों, प्राध्यापकों अन्य कर्मचारियों एवं विद्यार्थियो की दृष्टि से सोचतें हैं तो एक समिति है इसके कुछ उद्देश्य है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए महाविद्यालय की शिक्षण की एक पद्वति, टाइम–टेबुल नियम एवं आचरण सम्बन्धी बातें तथा परीक्षा की एक प्रणाली आदि होते

हैं। ये सब मिलकर महाविद्यालय को एक संस्था का रूप प्रदान करते हैं। अन्य शब्दो में, यह कहा जा सकता है। जब हम महाविद्यालय पर नियमों, कार्य–प्रणाली अर्थात कार्य ढंग, शिक्षण–पद्वति, परीक्षा–प्रणाली, आदि के रूप में विचार करते है तो वह एक संस्था है। स्पष्ट है कि समिति मनुष्यों का एक संगठित समूह है, जबकि संस्था नियमो एवं कार्य–प्रणाली की एक व्यवस्था। हम मनुष्यों के समूह के ही सदस्य हो सकते है, नियमों एवं कार्य–प्रणाली की व्यवस्था के नहीं। महाविद्यालय रूपी समिति के प्राचार्य, प्राध्यापक, अन्य कर्मचारी या विद्यार्थी के रूप में तो सदस्य हो सकते हैं, परन्तु महाविद्यालय रूपी संस्था अर्थात् नियमों, शिक्षण–पद्वति, परीक्षा–प्रणाली सम्पूर्ण कार्य–प्रणाली के सदस्य नहीं बन सकते। हम मानव रूप में मूर्त हैं, समिति भी

संगठित समूह के रूप में मूर्त है इसलिए मूर्त मानव मूर्त संगठित समूह अर्थात् समिति का सदस्य तो बन सकता है, परन्तु वह अमूर्त नियमों, विधि–विधानों एक कार्य–प्रणाली अर्थात् संस्था (जो अमूर्त है) का सदस्य नहीं हो सकता।

महाविद्यालय की तरह ही परिवार, आर्थिक संघ, राजनीतिक दल, राज्य, अस्पताल, लोकसभा, आदि में समिति और संस्था दोनों ही हैं। ये सब संगठित समूह भी हैं और इन सबके अपने–अपने नियम, विधि–विधान एवं कार्य–प्रणाली भी हैं। संगठित समूह के रूप में इनमें से प्रत्येक समिति है और नियमों व कार्य–प्रणाली की व्यवस्था के रूप में संस्था। हम समिति (संगठित समूह) के सदस्य तो हो सकते हैं और होते हैं, परन्तु नियमों एवं कार्य–प्रणाली की व्यवस्था (संस्था) के नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्थाओं के नहीं।

6.8 सारांश

समिति और संस्था दोनों एक–दूसरें से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं और दोनों को एक दूसरे के संदर्भ में ठीक प्रकार से समझा जा सकता है। समिति व्यक्तियों का समूह है जो कुछ उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनायी जाती है, जबकि संस्था इन्हीं उद्देश्यों को पूरा करने हेतु नियमों एवं कार्य प्रणाली की एक व्यवस्था हैं। संस्था को कार्य करने का समाज द्वारा मान्यता प्राप्त एक निश्चित ढंग भी कहा जा सकता हैं। जिन उद्देश्यों को लेकर समिति बनायी जाती है उन्हीं की पूर्ति के लिये अपनायी जाने वाली कार्य प्रणाली को संस्था कहा जाता है। समिति और संस्था दोनों ही अपने आप से साध्य नहीं होकर मानवीय हितों उद्देश्यों की पूर्ति के माध्यम या साधन है।

बोध प्रश्न –

1. समिति का क्या अर्थ है? समिति की विशेषतायें लिखियें।
2. संस्था की अवधारणा स्पष्ट कीजिये तथा इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
3. समिति के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिये।
4. समिति एवं संस्था में अन्तर स्पष्ट कीजिये तथा सामाजिक जीवन में इनके महत्व का वर्णन कीजिये।

5. ''हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्थाओं के नहीं'' की व्याख्या कीजिये।

6. निम्नलिखित में कौन समिति का उदाहरण है ?

(क) प्रथा (ख) परम्परा

(ग) परिवार (घ) कानून

उत्तर– 6 (ग)

7. निम्नलिखित में कौन संस्था का उदाहरण है?

(क) धर्म (ख) विवाह

(ग) श्रम विभाजन (घ) सभी

उत्तर– 7 (घ)

8. निम्नलिखित में कौन समिति की विशेषता नहीं है?

(क) सदस्यता (ख) अस्थायी प्रकृति

(ग) निश्चित उद्देश्य (घ) कार्य करने के तरीके

उत्तर– 8 (घ)

इकाई–7

परिवार और उसके प्रकार

इकाई की रूपरेखा–

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 परिवार एक संस्था

7.3 परिवार के प्रकार

7.3.1 नाभिक या केन्द्रक या मूल परिवार और संयुक्त परिवार व्यवस्थाओं की अटूट परम्परा।

7.3.2 हिन्दू संयुक्त परिवार

7.4 भारत में संयुक्त परिवार का स्वरूप

7.4.1 संयुक्तता क्या है?

7.4.2 संयुक्त परिवार किन लोगों से बनता है?

7.5 परिवार चक्र

7.5.1 संयुक्त परिवारगत जीवन के आदर्श की कुछ सामाजिक समूहों के लिए अनुपयोगिता

7.6 परिवार में परिवर्तन

7.6.1 संयुक्त परिवार में परिवर्तन और विघटन की प्रक्रिया के कारण

7.6.2 परिवर्तन सम्बन्धी कारण जो संयुक्त परिवार को सुदृढ़ बनाते हैं

7.6.3 परिवारिक जीवनशैली का उभरता हुआ ढ़ाँचा

7.7 सारांश

7.8 बोध प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आपको निम्न बिन्दुओं के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा–

- परिवार का स्परूपः।
- परिवार एक संस्था के रूप में;।
- परिवार के विभिन्न प्रकार;।

- नाभिक या केन्द्रक परिवार का स्वरूप;।
- हिन्दू संयुक्त परिवार;।
- भारत में संयुक्त परिवार का स्वरूप;।
- परिवार चक्र का स्वरूप;।
- परिवार में परिवर्तन के विभिन्न कारण;।

7.1 प्रस्तावना

प्राचीन हिन्दू समाज में आश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान था। मनुष्य के जीवन को सुगठित और सुव्यवस्थित करने के निमित्त आश्रम व्यवस्था की स्थापना की गयी थी, जिनमें से एक आश्रम का नाम ''गृहस्थ आश्रम'' था।

भारतीय समाज में गृहस्थ आश्रम का अत्यधिक महत्व रहा है। इसमें गुरू से आज्ञा प्राप्त कर शिक्षार्थी गृहस्थ जीवन की ओर प्रस्थान करते थे और विवाहोपरान्त परिवारिक जीवन प्रारम्भ करते थें। हम परिवार को एक प्रकार का समूह और संस्था भी कह सकते हैं। परिवार एक प्राथमिक सामाजिक समूह के रूप मे इस आधार पर कहा जाता है क्योंकि सदस्यो के बीच में हम भावना तथा सादृष्य हित पाए जाते है। परिवार की जो कार्यप्रणाली है वह इसके संस्था होने का प्रमाण देती है।

7.2 परिवार एक संस्था

व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी शब्द 'परिवार' आंग्ल भाषा के 'फैमिली' (FAMILY) शब्द का रूपान्तर है। यह लैटिन भाषा के 'फैमुलस' (FAMULUS) शब्द से बना है। 'फैमुलस' का लैटिन भाषा में अर्थ, एक ऐसे समूह से है, जिसमें सभी सदस्य (अर्थात माता–पिता, सन्तान यहाँ तक कि नौकर तथा गुलाम) आ जाते हैं।

परिवार की एक संक्षिप्त, स्पष्ट व समस्त विशेषताओं को सम्मिलित करने वाली परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। परिवार मानव समाज की पूर्णतः मौलिक और सार्वभौमिक इकाई है। हममें से प्रत्येक किसी न किसी परिवार के सदस्य हैं। अतः साधारणतः माता–पिता और बच्चों के समूह को परिवार कहते हैं।

''मैकाईवर एवं पेज'' के अनुसार ''परिवार, पर्याप्त निश्चित सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक समूह है, जो पूर्ण तथा निश्चित रूप से सन्तान के जन्म तथा पालन–पोषण की व्यवस्था करने की क्षमता रखता है।''

''इलियट एवं मैरिल'' के अनुसार, ''परिवार को पति–पत्नी तथा बच्चों की एक जैविक सामाजिक इकाई के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। परिवार एक सामाजिक संस्था भी है और समाज द्वारा मान्य एक ऐसा संगठन भी है जिसके द्वारा कुछ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है।''

अतः इस प्रकार के परिवार को प्राथमिक या नाभिक परिवार कहा जाता है। कहीं–कहीं पर परिवार पितृवंशीय तथा मातृवंशीय या ऐसे सजातीय सदस्यों से होता है जिनके एक ही पूर्वज होते हैं। कुछ स्थानों पर परिवार का अभिप्राय ऐसे रिश्तेदारों और उन पर आश्रित सम्बन्धियों से होता है जो एक ही गृहस्थी के सदस्य हों। कुछ स्थानों पर तो ऐसा माना जाता है कि परिवार के सदस्य एक ही घर में रहते हैं, भले ही जीवन–पर्यन्त नहीं ! वह जीवन का कुछ हिस्सा तो एक ही आवास में बिताते हैं पर जीविकोपार्जन के लिए दूसरे स्थान पर रहते है और अन्तिम बात यह है कि परिवार के द्वारा उसके सदस्यों का समाजीकरण भी होता है। ये सब पहलू इस संस्था को सामाजिक संरचना की दूसरी इकाईयों से अलग करते हैं।

परिवार एक सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। इसके सदस्य विवाह, रक्त सम्बन्धों या विधिवत गोद लिए जाने के कारण परस्पर जुड़े होते हैं। उनमें परस्पर स्नेह, सहानुभुति, सेवा और त्याग की भावना पायी जाती है। ज्यादातर आबादी, पारिवारिक इकाईयों में ही रहती है। विश्व के विभिन्न देशों में कालान्तर में परिवार के विशष्ट रूपों और व्यवहार के ढंगों में भिन्नता अवश्य दिखायी दे सकती है परन्तु उनमें परस्पर स्नेह तथा एकजुटता की भावाना हमेशा रहेगी। समाजशस्त्रियों द्वारा इस संस्था के आदर्श और यथार्थ दोनों स्वरूपों का अध्ययन किया गया है। परिवार व्यवस्था के आदर्श रूप का अध्ययन इसलिए किया गया है कि इनमें परिवार में रहने वाले लोगों के व्यवहार के आधार का पता लगाया जा सके। दूसरी ओर समाजशास्त्री परिवार के वास्तविक स्वरूप का भी अध्ययन करते हैं। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि कालान्तर में समाज के हर समूह में परिवार का एक ढाँचा कैसे बनता है और बाद में इसमें किस प्रकार से और क्या–क्या बदलाव आते हैं। यह भी जानने की कोशिश की गयी है कि ऐसा क्या है जो पारिवारिक इकाई के कुछ पहलुओं को बदलने के लिए उत्तरदायी हैं।

हमने भारत में परिवारों के स्वरूप को समझने के लिए सबसे पहले परिवार के प्रकारों पर प्रकाश डाला है।

7.3 परिवार के प्रकार

भारतीय समाज की संरचना का आधार मुख्य रूप से नातेदारी की दो प्रमुख कड़ियाँ हैं –

माता व पिता अपने पुत्र और पुत्री से सम्बन्ध और सगे भाई–बहनों का आपसी सम्बन्ध। अतः परिवार इन्हीं सम्बन्धों पर आधारित है। भारत के सम्बन्ध में परिवार का तात्पर्य नाभिक परिवार और संयुक्त परिवार के स्वरूप से हैं।

सामान्यतः परिवार का वर्गीकरण, परिवार के संगठन पर आधारित होता हैं। जैसे मूल परिवार उस परिवार को कहते हैं, जहाँ एक पुरूष, उसकी पत्नी और उसके अविवाहित बच्चे हो तथा संयुक्त परिवार उस परिवार को कहा जाता है जिसमें मूल परिवार या नाभिक परिवार के साथ पति या पत्नी के अन्य नातेदार भी हों, तथा वे सभी एक ही घर में साथ–साथ रहते हों।

भारतीय समाज मुख्य रूप से पितृसत्तामक समाज है। कुछ जनजातियों या जातियों में मातृसत्तामक व्यवस्था पायी जाती है। आर्य, जो भारतीय समाज के प्रवर्तक हैं, प्रमुखतः पितृसत्तामक थे और यही नियम मुख्य रूप से आज भी भारतीय समाज को प्रभावित किए हुए हैं। पितृसत्ता का अर्थ यह है कि परिवार में पिता की सत्ता होती है, सम्पति भी पिता से पुत्र को जाती है और गोत्र भी पुत्र को पिता

से ही प्राप्त होता है। मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवारों की संख्या बहुत कम है। मातृसत्तात्मक परिवार में वंश का नाम माँ के नाम से चलता है। मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार का निर्माण स्त्री, उसके भाई–बहनों तथा उनके बच्चों से होता है। पति को पत्नी के घर जाकर रहना पड़ता है। सम्पत्ति का अधिकार, स्त्री से पुत्रियों को प्राप्त होता है।

भारत में परिवार का विस्तार चाहे समानान्तरीय हो या उर्ध्वाकार हो, उसे संयुक्त परिवार का नाम दिया जाता है। यह ऐसी इकाई है जिसका कानूनी तौर पर सम्पत्ति पर भी अधिकार होता है। इस प्रकार भारत में संयुक्त परिवार जैसी व्यवस्था को कानूनी और दूसरे सन्दर्भों में मान्यता प्राप्त है।

मूल या नाभिक परिवार और संयुक्त परिवार की जो परिभाषाएँ ऊपर वर्णित है वे अत्यन्त सीमित है क्योंकि यह परिवार के गठनात्मक पहलू को ही दर्शाती है। यदि हम भारतीय समाज में पारिवारिक जीवन के ढाँचे में व्याप्त विभिन्नताओं को समय के परिप्रेक्ष्य में और भारत में विद्यमान विभिन्न क्षेत्रों, धर्मो और वर्गो में देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल परिवार और संयुक्त परिवार को दो पृथक परिवार के रूप में देखना सही नहीं है, बल्कि इन्हें एक ऐसी अटूट परम्परा के रूप में देखना होगा जो परिवार की चक्रीय अवधारणा से समझा जा सकती हैं।

7.3.1 नाभिक या केन्द्रक या मूल परिवार और संयुक्त परिवार व्यवस्थाओं की अटूट परम्परा

नाभिक परिवार और संयुक्त परिवार वास्तव में एक–दूसरे से सम्बद्व है। समय के साथ, इनका स्वरूप, आकार, बनावट तथा व्यक्तियों की भूमिका और प्रस्थिति में कई परिवर्तन हुए है। यहाँ पर हम मूल परिवार और संयुक्त परिवार की व्यवस्थाओं को एक अटूट परम्पराओं के रूप में देखेंगे। भारत में शायद ही कोई ऐसा परिवार हो जो निरन्तर नाभिक परिवार बना रहा हो। प्रायः परिवार के कुछ सदस्य जैसे बुढ़े माता–पिता, पति के अविवाहित भाई–बहन, आदि एक मूल परिवार अर्थात पति–पत्नी और उनके अविवाहित बच्चों के साथ रहने लगते हैं। ऐसी स्थिति में मूल परिवार, संयुक्त परिवार में परिवर्तित हो जाता है। मूल परिवार की संरचना में वृद्वि के कुछ कारण निश्चित किए गए हैं जो निम्नवत् है–

1. **मूल या नाभिक परिवार –**

   मूल या नाभिक उस परिवार को कहते हैं जिसमें पति–पत्नी बच्चों के साथ या बच्चों के बिना हों।

2. **अनुपूरित मूल परिवार –**

   उस मूल परिवार को कहते हैं जिसमें एक से अधिक अविवाहित, तलाकशुदा या विधवा–विधुर सम्बन्धी रहते हों।

3. **उपमूल परिवार –**

अनुपूरित मूल परिवार का अंश, जिसके साथ कोई विधवा या विधुर अपने अविवाहित बच्चों या सगे भाई–बहनों के साथ आकर रहें।

4. **एक व्यक्ति का परिवार –**

यह नाम से स्वतः स्पष्ट है, जिसमे केवल एक ही व्यक्ति हो।

5. **अनुपूरित उपमूल परिवार –**

इसका अर्थ ऐसे मूल परिवार से हैं जिसके साथ कोई अन्य विवाहित, तलाकशुदा, विधवा–विधुर सदस्य भी थे, जो कि मूल परिवार के सदस्य नहीं थे। उदाहरण स्वरूप कोई विधवा अपने अविवाहित बच्चों के साथ अपनी विधवा सास के पास रहे तो वह परिवार अनुपूरित उपमूल परिवार कहलाता है।

साधारणतया परिवार के इन प्रकारों का सीधा सम्बन्ध संयुक्त परिवार से हैं। आगे हम संयुक्त परिवार के विषय में जानकारी प्राप्त करगें।

7.3.2 हिन्दू संयुक्त परिवार

विवाह के समय पुरोहित आर्शीवाद देते हुए कहता है कि ''तुम यहीं इस घर में रहो, वियुक्त मत हो, अपने घर पर पुत्रों और पौत्रौ के साथ खेलते हुए और आनन्द मनाते हुए सारी आयु का उपभोग करो तथा सास, ससुर, देवर, ननद के साथ आनन्दपूर्वक रहो''। अतः यहाँ एक संयुक्त परिवार वर्णित किया गया है।

''इरावती कर्वे'' के अनुसार ''एक संयुक्त परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो सामान्यतः एक ही घर में रहते हैं। जो एक ही रसोई से बना भोजन करते हैं, जो सम्पत्ति के सम्मिलित स्वामी होते हैं और जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं तथा जो किसी न किसी प्रकार से एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी हों। ''डा0 एस.सी दूबे'' के अनुसार, ''यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों और उनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उनके सम्मिलित रूप को संयुक्त परिवार कहा जाता है।''

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही निवास स्थान पर रहते है, एक रसोई में भोजन करते हैं, एक साथ पूजा करते हैं और पारिवारिक सम्पत्ति में सहभागी हैं, परन्तु ऐसे लोग जो एक साथ नहीं रहते, व्यवसाय के कारण उन्हें दूसरे स्थान पर जाकर रहना पड़ा, परन्तु वह अपने निवास स्थान को ही अपना मानते हैं तथा अपने को उस परिवार का अंश मानते हैं, ऐसे परिवार को ही भारतीय समाज में संयुक्त परिवार कहा जाता हैं।

सामान्यतः परिवार का सबसे वृद्ध व्यक्ति ही इस परिवार का स्वामी या मुखिया होता हैं। उस व्यक्ति की पत्नी, उस घर का संचालन करती है। परिवार में उनके साथ उनके व्यस्क पुत्रों तथा उनकी पत्नियाँ, उनके बच्चे और अविवाहित पुत्र एवं पुत्रियाँ भी रहते हैं। विवाहित महिला अपनी सास, जेठानी और देवरानी के साथ मिलकर काम करती हैं। परिवार के सभी छोटे सदस्य, परिवार के बड़े सदस्यों से अनुमति लेकर ही कार्य करते हैं और बड़ों की आज्ञा मानते हैं।

7.4 भारत में संयुक्त परिवार का स्वरूप

अब हम संयुक्त परिवार के स्वरूप अर्थात संयुक्तता क्या है, संयुक्त परिवार में कौन–कौन होता है, इन प्रमुख विषयों का विशषलेण करेंगे–

7.4.1 संयुक्तता क्या है?

संयुक्त का शाब्दिक अर्थ एक साथ है। यहाँ संयुक्तता साथ रहने, साथ खाने, सम्पत्ति में समान अधिकार, एक ही देवता की पूजा करना, सभी अनुष्ठान साथ करना, यही संयुक्तता है। अब हम इन तत्वों पर विचार करेंगे–

1. **एक ही आवास** – परिवार के सभी सदस्य एक ही मकान में रहते हैं।

2. **सहभोजिता** – संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही रसोई में बना भोजन ग्रहण करते है। यहाँ रसोई घर में सभी स्त्रियाँ मिलकर भोजन बनाती हैं। यहाँ किस अवसर पर क्या भोजन बनेगा इसका निर्धारण परिवार की सबसे व्यस्क स्त्री द्वारा किया जाता है।

3. **संपत्ति का संयुक्त स्वामित्व** – संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों की एक सामान्य संपत्ति होती हैं, जिसमें सभी पुरूष जो एक ही पूर्वज के वंशज होते है, हिस्सेदार होते हैं। सभी पुरूष सदस्य अपने–अपने स्रोतों से धन अर्जित कर परिवार के सामान्य कोष में देते हैं तथा विवाह, उत्सव, जन्म और मृत्यु पर उसी सामान्य कोष से व्यय किया जाता हैं। परिवार का सबसे बड़ा पुरूष जो कर्त्ता कहलाता हैं इस संपत्ति की व्यवस्था करता हैं।

4. **सहकारिता और भावनात्मकता** – संयुक्त परिवार कार्यात्मक दृष्टि से अपने नातेदारों के प्रति अपने दायित्वों का पूर्णरूपेण निर्वहन करने पर बल देता हैं। एक संयुक्त परिवार में पिता की तरफ के घर के विभिन्न पुरूष व नातेदारों के घर, परिवार में शामिल होते हैं, भले ही वे एक ही घर में न रहते हों। परन्तु उन सभी में एक बात समान होती है कि वे अपने आप को उस परिवार का सदस्य मानते हैं। वे सभी घर के प्रत्येक कार्यक्रम में भाग लेतें हैं और वित्तीय तथा अन्य प्रकार से सहायता करते हैं।

5. **अनुष्ठान सम्बन्ध** – हिन्दुओं में जीवन की सभी महत्वपूर्ण घटनाएँ धार्मिक कार्यो या अनुष्ठानों से ही प्रारम्भ होती हैं। संयुक्त परिवार में पारिवारिक अनुष्ठान ही संयुक्तता का प्रतीक माना जाता हैं। परिवार के सदस्य प्रत्येक अनुष्ठान में एकजुट होकर कार्य करते हैं। उदाहरण स्वरूप, प्रत्येक परिवार का सदस्य मृत माता–पिता का श्राद्ध करता हैं, जिसमें संयुक्त परिवार का बड़ा सदस्य, परिवार के अन्य सदस्यों की ओर से पूजा–पाठ और पिण्डदान करता हैं।

संयुक्त परिवार के सदस्य एक ही देवता की पूजा करते हैं। प्रत्येक परिवार का एक कुलदेवता होता है। परिवार में मुण्डन, यज्ञोपवीत तथा विवाह आदि संस्कार कुलदेवता के मन्दिर या पूजा स्थल पर सम्पन्न किया जाता हैं।

7.4.2 संयुक्त परिवार किन लोगों से बनता है?

संयुक्त परिवार के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए यह जानना अति आवश्यक है कि परिवार किन–किन लोगों से बनता है, जो निम्नवत् हैं–

1. **परिवार के सदस्यों में नातेदारी के सम्बन्ध** – संयुक्त परिवार में ऐसे सदस्य होते हैं जो वंश परम्परा और शाखीय रूप अथवा दोनों ही प्रकार से सम्बन्धित होते हैं। संयुक्त परिवार तभी संयुक्त कहलाता हैं, जहाँ दो या दो से अधिक विवाहित दम्पति हों। अतः कहीं–कहीं पर यह वंश परम्परा अर्थात पिता–पुत्र बन्धन से या पिता–पुत्री बन्धन से बँधे होते हैं तथा कहीं–कहीं, भाई–भाई सम्बन्ध या भाई–बहन सम्बन्ध से नातेदारी में जुड़े होते हैं।

2. **परिवारिक इकाई में पायी जाने वाली पीढ़ियों की संख्या** – संयुक्त परिवार का अध्ययन करते हुए हम इस इकाई में पायी जाने वाली पीढ़ियों के बारे में विचार करेंगे। ए. आर. देसाई (1964) और टी. एन. मदन (1965) जैसे कुछ समाजशास्त्रियों ने इस बात पर बल दिया है कि किसी संयुक्त परिवार की पहचान के लिए यह देखा जाए कि उस संयुक्त परिवार में कितनी पीढ़ियाँ हैं। सामान्यतः संयुक्त परिवार तीन पीढ़ियों से पूर्ण माना गया है। जिस परिवार मे तीन पीढ़ियों के सदस्य एक साथ रहते हैं उसे संयुक्त परिवार कहा जाता है। उदाहरण स्वरूप एक पुरूष, उसका विवाहित पुत्र और उसके पौत्र मिलकर एक संयुक्त परिवार का निर्माण करते हैं।

3. **संयुक्त सम्पत्ति में भागीदारी** – सन् 1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम पारित होने तक पितृवंशीय हिन्दुओं में, पुत्र के पैदा होते ही, पिता और पूर्वजों की सम्पत्ति पर जन्मजात अधिकार हो जाता है। दूसरी पद्वति के अनुसार पिता, पूर्वजों की सम्पत्ति के अपने भाग का पूर्ण रूप से स्वामी है और उसे अपनी इच्छा से किसी को भी देने का अधिकार है।

पितृवंशीय हिन्दुओं में कुछ चल सम्पत्ति विवाह के अवसर पर कन्या को 'स्त्रीधन' के रूप में देने का रिवाज है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम पास हो जाने के बाद यह पद्वति लागू हुई कि यदि किसी हिन्दू पुरूष ने मरने से पहले अपनी सम्पत्ति के लिए वसीयत न बनाई हो तो उस सम्पत्ति में उसके पुत्र, पुत्री, विधवा और माता–पिता सभी को बराबर– बराबर हिस्सा मिलता है।

7.5 परिवार चक्र

चक्र ऐसी गति को कहा जाता है जो गोलाई में बार–बार दोहराई जाती है। परिवार चक्र, जीवन के ऐसे तत्वों को दर्शाता है जो विशेष प्रकार से और विशेष दशा में घटित होते रहते हैं।

7.5.1 संयुक्त परिवारगत जीवन के आदर्श की कुछ सामाजिक समूहों के लिए अनुपयोगिता

जिस प्रकार संयुक्त परिवारगत जीवन एक आदर्श है, जहाँ सभी लोग अर्थात कई विवाहित युगल एक साथ प्रेमपूर्वक रहते हैं और एक–दूसरे के प्रति सम्मान और आदर की भावना रखते हैं, वहीं ग्रामीण तथा मजदूर वर्ग के लिए एक संयुक्त परिवार में रहना अत्यन्त कठिन है।

इन परिवारों में लोगों की संख्या अधिक होती है और ग्रामीण मजदूरों तथा भूमिहीनों की सम्भावित जीवन अवधि कम होने के कारण इनमें तीन पीढ़ी एक साथ नहीं रह पाती है। इनकी आर्थिक स्थिति काफी कमजोर होती है और बूढ़े माता–पिता नहीं कमाते साथ ही परिवार की आय में उनका कोई योगदान नहीं होता है, अतः उन्हें परिवार के लिए उपयोगी तथा महत्वपूर्ण नहीं माना जाता । इन वर्गो की स्त्रियाँ भी अपने घर की आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिए घर से बाहर धन अर्जित करने जाती हैं अतः वह अपने घर, गृहस्थी तथा बच्चों की देखरेख ठीक प्रकार नहीं कर पाती हैं। अतः संयुक्त परिवार की पारम्परिक संरचना को निभाना कठिन हो जाता है। परिवार का व्यक्ति अधिक कमाई की खोज में इधर–उधर भटकता रहता है, अतः एक साथ नहीं रह पाता। अतः इन परिस्थितयों में संयुक्त परिवार बनाए रखना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

7.6 परिवार में परिवर्तन

परिवार में परिवर्तन होने के कारणों के विषय में जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इससे परिवार का ढाँचा बदलता है। भारत में परिवार व्यवस्था आर्थिक, शिक्षा सम्बन्धी, कानूनी और जनसांख्यिकीय आदि बहुत से कारणों से प्रभावित हुई है। अतः हमें इन सभी कारणों के बारे में जानकारी प्राप्त करनी होगी। इनमें से किसी एक कारण द्वारा परिवर्तन सम्भव नहीं है। अतः अब हम इन कारणों की चर्चा करेंगे–

7.6.1 संयुक्त परिवार में परिवर्तन और विघटन की प्रक्रिया के कारण

अंग्रेजी शासन काल के समय इन संयुक्त परिवारों में काफी परिवर्तन हुए। भारत में अंग्रेजों के शासन काल में हमारे समाज में रहन–सहन की स्थिति में जो परिवर्तन हुआ, वह निम्नवत् है।

1. **आर्थिक कारण –** अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में मुद्रा का प्रचलन प्रारम्भ किया। जिससे विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार के लिए संचार हुआ और व्यवसाय के अवसरों का प्रचार हुआ। अंग्रेजों ने भारत में ऐसी अर्थव्यवस्था स्थापित की जिससे वस्तुओं के बदले मुद्रीकरण की पद्धति सामने आयी। तत्पश्चात् अंग्रेजों ने सरकारी नौकरी में रोजगार देना प्रारम्भ किया। जो लोग इस व्यवसाय के प्रति आकर्षित हुए उन्होनें अपने पूर्वजों का व्यवसाय छोड़ दिया और शहरों में आकर रहने लगे जहाँ रोजगार के अवसर प्राप्त हो रहे थे। इस प्रकार वे अपने घर से अलग हो गये और पत्नी तथा बच्चों के साथ शहरों में रहने लगे। आजादी के बाद व्यावसायिक गतिशीलता में भी बढ़ोत्तरी हुई।

2. **शैक्षिण कारण –** अंग्रेजों के शासनकाल में उच्च शिक्षा के कई अवसर सामने आए। शिक्षा का अवसर उच्च जाति और समुदाय के लोगों को प्राप्त हुआ। जिन लोगों ने अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त की, उनकी विचारधारा ही बदल गयी। इन सभी ने बाल विवाह, स्त्रियों को संपत्ति के अधिकार से वंचित रखना, विधवा के साथ बुरा व्यवहार करना, जैसे रिवाजों का विरोध किया। शिक्षित युवक परम्परा के विरूद्ध कार्य करने लगे। वे शिक्षित लड़कियों से अधिक आयु में विवाह करने लगे। परिवार में शिक्षित महिला के आने से एक विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ा।

3. कानूनी व्यवस्था – कई प्रकार के कानून बने जिससे परिवार व्यवस्था प्रभावित हुई हैं। जैसे– रोजगार, शिक्षा, विवाह और संपत्ति सम्बन्धी कानून। संयुक्त परिवार पर आर्थिक निर्भरता को समाप्त करने के लिए कर्मचारियों के लाभ के लिए पारित कामगार प्रतिपूर्ति अधिनियम (1923), न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (1948) लागू हुआ। सन्(1930) में हिन्दू विद्याधन अधिनियम पारित किया गया। इसके अनुसार यदि कोई हिन्दू, शिक्षा के लिए कोई सम्पत्ति बनाता है वो वह उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति होगी चाहे उसकी शिक्षा का खर्च संयुक्त परिवार ने ही क्यों न उठाया हो। इस प्रकार अपनी कमायी हुई सम्पत्ति और संयुक्त परिवार में भेद किया गया।

4. नगरीकरण – इससे भारत में पारिवारिक जीवन का ढाँचा ही प्रभावित हो गया। इससे लोग ग्रामीण इलाकें से पलायन कर शहरों में आकर बसने लगे और कृषि पर आधारित व्यवसाय को छोड़कर गैर–कृषि व्यवसाय की ओर अग्रसर हुए और शहरी जीवन पद्धति को स्वीकार किया। इसके फलस्वरूप शहरों की जनसंख्या काफी बढ़ गई। शहरों में शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी बेहतर सुविधायें उपलब्ध होने लगी। बढ़ती आबादी के कारण वे छोटे–छोटे जगहों में रहने लगे। शिक्षा, व्यवसाय और चिकित्सीय सुविधाओं के कारण लोग शहरों में आकर बसने लगे जिससे गाँव प्रभावित हुए और लोगों के अपने परिवार को छोड़कर जाने से संयुक्त परिवार भी प्रभावित हुआ। मुख्यतः कहा जाए तो सारी सुविधायें मिलने के कारण लोग अपने संयुक्त परिवार को छोड़कर अलग हो गए जिससे पारिवारिक विघटन हुआ।

7.6.2 परिवर्तन सम्बन्धी कारण जो संयुक्त परिवार को सुदृढ़ बनाते हैं

संयुक्त परिवार, जिसका स्वरूप है– सहभोज, सहवास तथा बड़ा आकार, ऐसे परिवार पर विपरीत प्रभाव पड़ने के कारणों की चर्चा हमने की। अब हम ऐसे पहलुओं पर चर्चा करेंगे जो संयुक्त परिवार को सुदृढ़ बनाती है। यहाँ इस विषय को स्पष्ट करने के लिए तीन बातों पर ध्यान देंगे–

1. यह बात इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि सुविधाओं को देखते हुए लोग शहरो में आकर रहते हैं, परन्तु गाँवों मे रहने वाले परिवार से उनका लगाव कम नहीं होता। वह हमेशा, सुख–दुख में गाँव में रहने वाले अपने परिवार के साथ खड़े पाए जाते हैं। गाँव के हर समारोह में वह अपने परिवार के पास आ जाते हैं।

2. दूसरी ओर संयुक्त परिवार औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में बाधक है। इस धारणा को चुनौती देने वालों का कहना है कि देश के कुछ सफल औद्योगिक संस्थान का प्रबन्ध ऐसे व्यक्तियों द्वारा चलाया जा रहा है जो संयुक्त परिवार का हिस्सा हैं। वे आज भी संयुक्त आवास तथा साथ खान–पान की परम्परा के समर्थक हैं और परिवार को आर्थिक योगदान देते और लेते हैं। 'मिल्टन सिंगर' ने (1968) ''The Indian Joint Family In Modern Industry'' नामक अपने अध्ययन में दिखाया है कि उद्योगपति के रहन–सहन के हालात में पर्याप्त परिवर्तन होने के बावजूद संयुक्त परिवार प्रतिमानों को आज भी उनके बीच पसन्द किया जाता है।

3. संयुक्त परिवार की आर्थिक स्थिति उतनी मजबूत नहीं होती, परन्तु औद्योगिकीकरण से उसकी आर्थिक स्थिति को मजबूती मिलती है। कोलेंदा ने ''Regional Differences in Family Structure in India'' नामक अपने अध्ययन में कहा है कि ''औद्योगिकीकरण संयुक्त परिवार को मजबूती प्रदान करता है क्योंकि संयुक्त परिवार के समर्थन के लिए आर्थिक आधार मिल जाता है।''

7.6.3 पारिवारिक जीवन शैली का उभरता हुआ ढांचा

पारिवारिक जीवन शैली में पूर्ण रूप से आर्थिक पक्ष मजबूत करने के लिए अब पति–पत्नी दोनों नौकरी करते हैं। उनके साथ या तो पति के माता–पिता या पत्नी के माता–पिता आकर रहने लगते हैं, जो उनके बच्चों की देखभाल करते हैं। कहीं–कहीं पर दम्पति बुजुर्गों की टोका–टाकी पसन्द नहीं करते हैं ऐसी परिस्थिति में वे अपने बच्चों के साथ अकेले रहते है और रसोईए तथा नौकर से अपने बच्चों की देखभाल करवाते हैं एवं कभी–कभी वे अपने बच्चों की अच्छी परवरिश के लिए किसी निकट सम्बन्धी को बुला लेते हैं।

पहले माता–पिता बुढ़ापे में अपने लड़कों के साथ रहना पसन्द करते थे, पर अब ऐसा नहीं हैं। अब उन्होनें भी अपने आपको पारिवारिक जरूरतों के अनुसार ढालना शुरू कर दिया हैं। वे पहले से ही अपने बुढ़ापे के लिए आर्थिक व्यवस्था कर लेते हैं जिससे उन्हें वृद्धावस्था में अपने पुत्रों पर निर्भर न रहना पड़े। अब तो एक ही शहर में विवाहित बेटे, अपने माता–पिता से अलग रहते हैं। कहीं–कहीं पर बेटियाँ, अपने माता–पिता की वृद्धावस्था में देखभाल करने लगी हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि बेटियों की गृहस्थी चलाने के लिए विधवा माँ या माता–पिता बेटियों के पास आकर रहने लगते हैं।

7.7 सारांश

इस इकाई में परिवार को एक सामाजिक संस्था बताया गया हैं। हमने यहाँ परिवार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनके प्रकारों का वर्णन किया हैं। मूल परिवार तथा संयुक्त परिवार की व्यवस्थाओं के अटूट परम्परा का बल दिया हैं। इसके पश्चात् हमने संयुक्त परिवार में संयुक्तता क्या हैं, किन लोगों से बनता हैं, यह भी स्पष्ट किया हैं। परिवार चक्र का वर्णन किया हैं। संयुक्त पारिवारिक जीवन एक आदर्श तथा अनुपयोगिताओं का उल्लेख किया हैं। पारिवारिक परिवर्तनों को बताए बिना यह इकाई पूर्ण नहीं मानी जाती अतः हमने संयुक्त परिवार के विघटन और उसको सुदृढ़ बनाने की प्रक्रिया का भी विश्लेशषण किया हैं। अन्त में, वर्तमान पारिवारिक स्थिति, जो मनुष्यों की परिस्थिति के अनुसार मनोभावों को दर्शाता हैं, उसे भी स्पष्ट किया हैं।

7.8 बोध प्रश्न

1. परिवार के स्वरूप का स्पष्ट करते हुए इसके प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. भारत में हिन्दू संयुक्त परिवार के स्वरूप का स्पष्ट कीजिए।
3. संयुक्त परिवार और मूल परिवार के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
4. परिवारिक परिवर्तन के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिए।
5. परिवार को परिभाषित कर उसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

6. संयुक्त परिवार की विशेषता हैं?

(1) एक ही आवास स्थान (2) संयुक्त सम्पत्ति

(3) कर्ता की प्रधानता (4) सभी

उत्तर– 6 (4) सभी

7. संयुक्त परिवार के टूटने का कारण हैं,?

(1) औद्योगिकरण (2) नगरीकरण

(3) सामाजिक अधिनियम (4) सभी

उत्तर– 7 (4) सभी

8. एकाकी परिवार की विशेषता हैं,?

(1) पति–पत्नी और बच्चें (2) वैयक्तिकता

(3) कर्मठता (4) सभी

उत्तर– 8 (4) सभी

इकाई–8

विवाह एवं नातेदारी : प्रकृति एवं प्रकार

<u>**इकाई की रूपरेखा–**</u>

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 विवाह की प्रकृति

8.3 विवाह के प्रकार

- **8.3.1** एकल विवाह
- **8.3.2** बहु विवाह
- **8.3.3** समूह विवाह

8.4 नातेदारी की प्रकृति

8.5 नातेदारी से जुड़ा सामाजिक व्यवहार

- **8.5.1** विवाह नियम
- **8.5.2** नातेदारी के बीच उपहारों का औपचारिक आदान–प्रदान

8.6 नातेदारी के प्रकार

- **8.6.1** रक्त मूलक
- **8.6.2** विवाह मूलक

8.7 उत्तर और दक्षिण भारत में नातेदारी व्यवस्था

- **8.7.1** असमानताएँ
- **8.7.2** समानताएँ

8.8 विवाह के समय नातेदारी में आदान–प्रदान

8.8.1 वधू मूल्य

8.8.2 दहेज

8.9 विवाह और नातेदारी मे संम्बन्ध

8.10 सारांश

8.11 बोध प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से हम विवाह और नातेदारी के स्वरूप को स्पष्ट करेगे जिससे आप इन तथ्यों को जान सकेंगे–

- विवाह के स्वरूप को स्पष्ट करना,
- विवाह के प्रकारों की संक्षिप्त व्याख्या,
- नातेदारी की संक्षिप्त विवेचना,
- नातेदारी के प्रकारों का वर्णन,
- उत्तर और दक्षिण भारत में नातेदारी व्यवस्था का स्वरूप,
- नातेदारी से जुड़े सामाजिक व्यवहार का वर्णन,
- वधू–मूल्य और दहेज का स्पष्ट स्वरूप,
- विवाह और नातेदारी के सम्बन्धों का वर्णन।

8.1 प्रस्तावना

प्रत्येक शिशु एक परिवार में जन्म लेता है। वहॉ उसके कुछ रिश्तेदार होते हैं, फिर उसका विवाह होता है और वहॉ भी उसके कुछ नातेदार बन जाते हैं। भारत जैसे विशाल देश में प्रत्येक व्यक्ति इन सामाजिक सम्बन्धों से घिरा रहता है।

इस इकाई में हम विवाह और नातेदारी की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए उसके प्रकारों की व्याख्या करेंगे। यहॉ पर हमने उत्तर तथा दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्था में समानता और असमानता का वर्णन किया है और साथ ही साथ नातेदारी से जुड़े सामाजिक व्यवहार की व्याख्या भी की है। अन्त में विवाह और नातेदारी के बीच सम्बन्धो को स्पष्ट किया है।

8.2 विवाह की प्रकृति

प्रत्येक सामाजिक विचारक विवाह को एक संस्कार या एक धर्म मानते हैं। विवाह को एक सामाजिक या सांस्कृतिक संस्था भी माना जाता है। विवाह के कारण ही मानव का आस्तित्व बना हुआ है। समाज की निरन्तरता का आधार सन्तान है। सन्तान की उत्पत्ति के लिए विवाह का होना आवश्यक है।

वास्तव में विवाह, परिवार की आधारशिला है। विवाह के माध्यम से ही हिन्दु गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। विवाह के पश्चात् वे अपना घर बसाते हैं, अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति, सन्तान को जन्म देना और उसका पालन–पोषण करते हैं

जिससे कि उनकी संतान समाज के योग्य बन सके। विवाह ही गृहस्थ आश्रम का प्रवेश द्वार है और गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है।

मनु ने कहा है, ''जैसे सब प्राणी वायु के सहारे जीवित रहते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम से ही जीवन प्राप्त करते हैं। ''हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में हिन्दू जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है। ब्रह्म पुराण में वर्णित है कि देवता अमृत द्वारा अमर हुए और ब्रह्मामणादि मनुष्य पुत्र द्वारा पुत्र के रूप में पिता का पुनर्जन्म होता है।

हिन्दू विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म का पालन, सन्तानोत्पत्ति एवं यौन आकांक्षाओं की पूर्ति है। हिन्दु विवाह में धर्म को प्रधानता प्रदान की गयी है, यौन तृप्ति को प्रधानता नहीं दी गयी है। प्रत्येक समाज में यौन सम्बन्धों की स्थापना के लिए कुछ निश्चित नियम होते हैं, इन्ही मान्यता प्राप्त नियमों को विवाह कहा जाता है। विवाह के बन्धन में बॅधने वाले स्त्री–पुरूष, पति और पत्नी के रूप में परिवार का एक हिस्सा बन जाते हैं।

विवाह का उद्देश्य तीन है :–

1. धर्म
2. प्रजा
3. रति

धर्म अर्थात जीवन में क्या करना है, क्या नहीं करना है आदि का निर्धारण करता है। जीवन के दायित्व का संबंध धर्म से है।

प्रजाति की निरंतरता विवाह का दूसरा उद्देश्य है। स्त्री पुरूष के प्रति स्वाभाविक आर्कषण (रति) विवाह का अन्तिम उद्देश्य हैं।

8.3 विवाह के प्रकार

मानव जीवन के विकास के साथ–साथ विवाह के विभिन्न प्रकार भी अस्तित्व में आए हैं। मार्गन एवं उद्‌विकासवादियों की मान्यता है कि ''सभ्यता के अति प्राचीन काल में विवाह जैसी कोई संस्था नहीं थी। उस समय समाज में कामाचार का प्रचलन था।'' फिर धीरे–धीरे समूह विवाह प्रारम्भ हुआ और विभिन्न स्तरों से गुजरने के बाद एक विवाह प्रथा अस्तित्व में आयी।

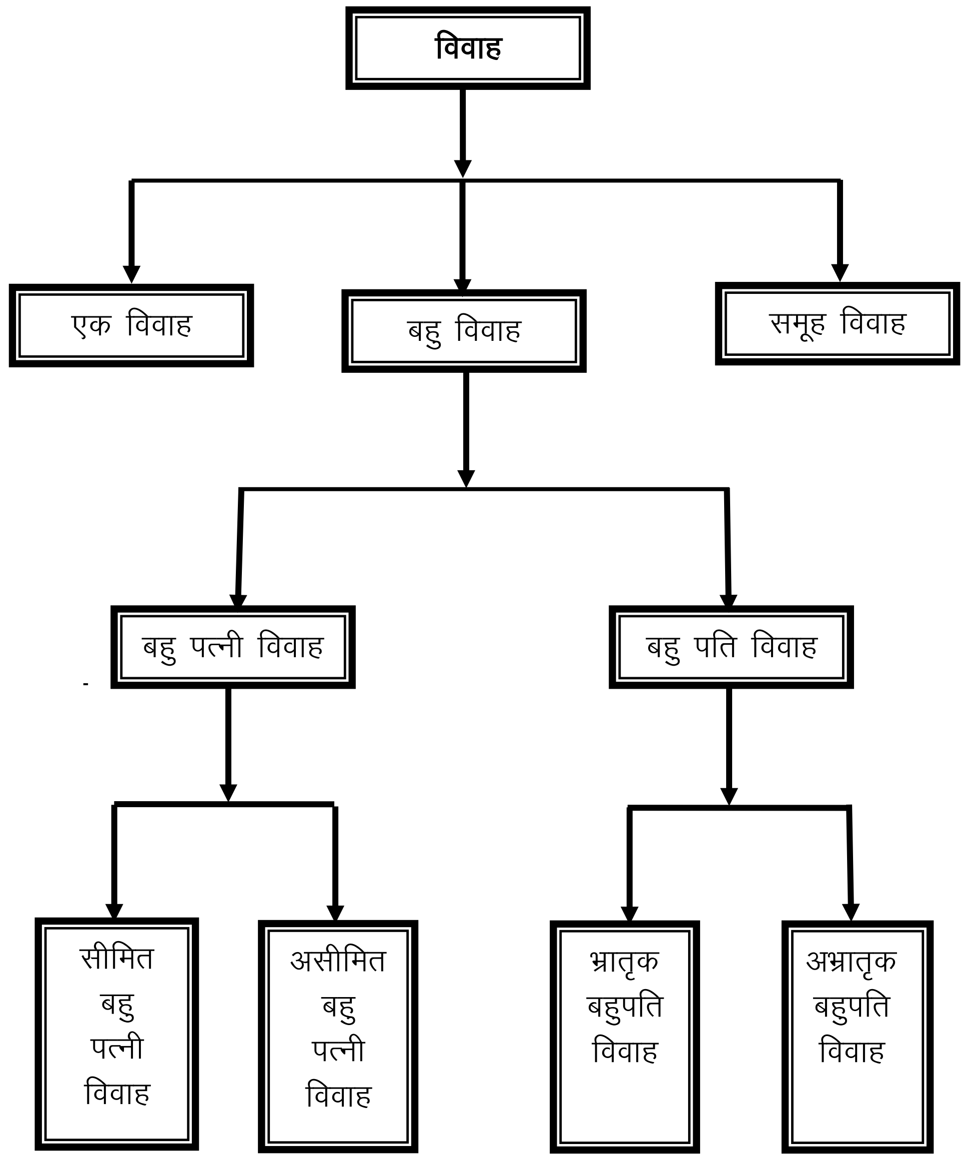

विवाह के समय मुख्य रूप से तीन तत्वों का समावेश है– कानूनी, धार्मिक तथा सामाजिक जो मुख्यतः विपरीत लिंग वालों में यौन क्रियाओ, यौन संबंध स्थापित करने एवं उनसे सम्बन्धित सामाजिक एवं आर्थिक दायित्वों को निभाने का अधिकार प्रदान करता है। इसलिए विवाह को वैयक्तिक सन्तुष्टि के साथ–साथ एक सामाजिक क्रियाविधि भी माना जाता है। परन्तु समाज के विभिन्न क्षेत्रों में विवाह के विभिन्न रूप, स्वरूप अथवा प्रकार प्रचलित हैं। विवाह को समझने के लिए विवाह के प्रकारों को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

8.3.1 एकल विवाह

एक विवाह को हिन्दू समाज में आदर्श माना गया है। कई वैदिक देवताओं ने भी एक विवाह को स्वीकार किया है। दाम्पत्य जीवन में दम्पति शब्द का प्रयोग भी घर के दो संयुक्त स्वामी पति–पत्नी के लिए हुआ है। वर्तमान समय में एक विवाह

को सर्वश्रेष्ठ रूप समझा जाता है। ''वेस्टरमार्क'' ने एक विवाह को ही विवाह का आदि स्वरूप माना है। ''मैलिनोवस्की'' का भी मानना है कि एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा है और रहेगा।'' वर्तमान में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा एक विवाह को आवश्यक कर दिया गया है। शिक्षा एवं सभ्यता के विकास के साथ–साथ एक विवाह का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है।

विश्व में स्त्रियों एवं पुरूषों का अनुपात लगभग बराबर है इसलिए यदि एक विवाह का पालन न हुआ तो कुछ लोगों को विवाह से वंचित रहना होगा । परिवार में सुख शान्ति बनाए रखने के लिए एक विवाह ही सर्वोत्तम विवाह माना जाता है। एक विवाह से निर्मित परिवार अपेक्षतया अधिक स्थायी होते है। ऐसे विवाहों से निर्मित परिवारों में स्त्री की प्रतिष्ठा ऊँची होती है। बच्चों का लालन–पालन, समाजीकरण एवं शिक्षा का कार्य इन विवाहों में उचित प्रकार से सम्पन्न होता है। एक विवाही परिवार का जीवन–स्तर ऊँचा होता है, इनमें सन्तानों की संख्या कम होती है। अतः परिवार छोटा और सुखी होता है।

8.3.2 बहु विवाह

जब एक से अधिक पुरूष अथवा स्त्रियॉ विवाह के बन्धन में बॅधते हैं, तो ऐसे विवाह को बहु विवाह कहते हैं। इनके दो प्रकार बताए गए हैं–

1. **बहु पत्नी विवाह –**

   जिस विवाह में एक पुरूष, एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करते हैं, तो वह बहुपत्नी विवाह कहलाता है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के पहले, हिन्दुओं में इस विवाह का प्रचलन था। प्राचीन काल के राजा तथा नवाब बहुपत्नी विवाह के कारण प्रसिद्व थे। उनके लिए अधिक पत्नी का रखना, उच्च स्थिति का प्रतीक माना जाता था। मुसलमानों में बहुपत्नी विवाह अभी भी प्रचलित है। वैधानिक रूप से कोई भी मुसलमान एक समय में चार पत्नी रख सकता है। मुसलमानों के अतिरिक्त अनेक जनजातियों (जैसे भील,गोंड,आदि) में बहु–पत्नी विवाह प्रचलित है। इससे गृह कार्य तथा बच्चों के पालन–पोषण में सहायता मिल जाती है।

2. **बहु पति विवाह–**

   बहु–पत्नी विवाह का विपरीत रूप बहुपति विवाह है। इस विवाह में एक स्त्री एक ही समय में दो या दो से अधिक पति रख सकती है। ''मिचेल'' लिखते है कि ''एक स्त्री द्वारा एक पति के जीवित रहते हुए अन्य पुरूषों से भी विवाह करना या एक समय पर ही दो या दो से अधिक पुरूषों से विवाह करना बहुपति विवाह है।'' वैदिक साहित्य में बहुपति प्रथा की सख्त मनाही थी, परन्तु महाभारत काल में ऐसे विवाहों के कुछ उदाहरण पाए जाते हैं। द्रौपदी का विवाह पॉच पाण्डव भाईयों से हुआ था। परन्तु वर्तमान समय में धीरे–धीरे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन समाप्त होता जा रहा है। जब दो या दो से अधिक भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं अथवा सबसे बड़ा भाई एक स्त्री से विवाह करता है और अन्य भाई स्वतः ही उस स्त्री के पति माने जाते है, तो इस तरह के विवाह को भ्रातृक बहुपति विवाह कहते हैं और जहॉ पति परस्पर भाई नहीं होते, स्त्री बारी–बारी से समान अवधि के लिए प्रत्येक पति के पास रहती है तो उसे अभ्रातृक बहुपति विवाह कहते है। मुख्यतः यह प्रथा टोडा तथा नायरों में पायी जाती है।

8.3.3 समूह विवाह

पुरूषो का एक समूह जब स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है तो उसे समूह विवाह कहते हैं। इसमें प्रत्येक पुरूष, प्रत्येक स्त्री से यौन सम्बन्ध स्थापित करने में स्वतन्त्र होता हैं। समूह विवाह जनजातियों में पाया जाता था, तथा यह विवाह का प्रारम्भिक रूप माना गया हैं। ''वेस्टरमार्क'' के अनुसार, तिब्बत, भारत व लंका में यह विवाह पाया जाता है।

प्रचलित स्वरूप–

भारत में सामान्यतः एक विवाह का ही प्रचलन है। कानून में भी एक पत्नी के रहते दूसरी पत्नी से विवाह मान्य नहीं है, परन्तु आज भी बहुत से पुरूष बिना बताए दूसरा विवाह कर लेते है। पत्नी को उसके दूसरे विवाह का पता नहीं लग पाता है और यदि उसे पता चल भी जाता है तो भी वह कानूनी अधिकारों से अनभिज्ञ रहने के कारण, 'भाग्य में जो लिखा है, वही होता है' के रूप में स्वीकार कर लेती है। समाज में अपने तथा अपने पति को अपमानित होने से बचाने के लिए वह चुप रह जाती है। मुसलमानों मे पुरूषों को महिलाओं की अपेक्षा अधिक सुविधायें दी गयी हैं। एक पुरूष को चार पत्नियों को रखने की अनुमति दी गयी है। मुस्लिम महिला दूसरा विवाह तब तक नहीं कर सकती है, जब तक उसका पति से तलाक न हुआ हो, या वह जीवित न हो।

8.4 नातेदारी की प्रकृति

प्रत्येक समाज में नातेदारी एवं विवाह, सामाजिक जीवन के आधारभूत स्तम्भ हैं। प्रत्येक समाज में सदस्य अनेक प्रकार के सम्बन्धों द्वारा विभिन्न समूहों के रूप में परस्पर बॅधे रहते हैं। प्रत्येक समाज में व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात उसकी सम्पत्ति को उसके नातेदारों को उत्तराधिकार में देने की अपनी परम्पराऍं होती है। उदाहरण के लिए, एक पिता की सम्पत्ति अधिकतर समाजों में उसके लड़कों को उत्तराधिकार में मिलती है। यदि सम्पत्ति नजदीकी नातेदारों को दी जानी है तो यह स्पष्ट रूप से जानना होगा कि कौन सी नातेदारी नजदीकी नातेदारों की श्रेणी में आती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी समाज का हो, किसी समय वह एक पिता, कभी एक पुत्र तो कभी एक भाई की भूमिका निभाता है। इसी प्रकार एक स्त्री, एक पत्नी, मॉ, पुत्री और बहन की भूमिका निभाती है। परन्तु, कुछ निषेधों के कारण एक व्यक्ति, एक ही परिवार में पुत्र और भाई, पिता और पति की भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक महिला जिस परिवार में पुत्री और बहन है उसी परिवार में मॉ और पत्नी की भूमिका का निर्वहन नहीं कर सकती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति दो परिवारों से सम्बद्व होता है। ''नातेदारी वह सामाजिक सम्बन्ध है जो पारिवरिक सम्बद्वता पर आधारित हो।''

8.5 नातेदारी से जुड़ा सामाजिक व्यवहार

उत्तर भारत में विवाहों में नातेदारी की दृष्टि से नई रिस्तेदारी पैदा होती है। अतः यहाँ नातेदारी के ढाँचे को समझने के लिए विवाह नियमों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। उत्तर भारत में चाहे किसी को अपनी जाति, उपजाति के सारे सदस्यों के बीच नातेदारी की कड़ियों की जानकारी हो या न हो, प्रायः सभी को इस बात की पूरी जानकारी होती है कि किस–किस श्रेणी के नातेदार के मध्य विवाह वर्जित है।

8.5.1 विवाह नियम

विवाह के दो नियम है–

1. अर्न्तविवाह–(endogamy) व्यक्ति को अपने जाति में विवाह–करना होता हैं।
2. वर्हिविवाह–(exogamy)–व्यक्ति अपने गोत्र, प्रवर और पिंड से बाहर विवाह कर सकता है।

गोत्र से बाहर –

समान गोत्र वाले महिला व पुरूष को विवाह करने की अनुमति नहीं हैं उत्तर भारत में पॉच या छः पीढ़ियों तक प्रायः सभी को वंशपरम्परा का ज्ञान होता है। इस सीमा रेखा के अन्दर विवाह सम्बन्ध स्थापित करना बहुत गलत समझा जाता है। एक परम्परा के सारे पुरूष गोत्र भाई होते हैं। संस्कृत शब्द 'गोत्र' का शाब्दिक अर्थ है, गायों को रखने का स्थान और एक स्थान पर रहने वाले एक वंश के लोगों के लिए इसका प्रयोग किए जाने की परम्परा कुछ वर्गो, जैसे– ब्राह्मणों में पाए जाते हैं। जहाँ भी गोत्र के प्रति चेतनता है, उस समूह में सगोत्र विवाह वर्जित है।

चतुर्गोत्रीय सीमा का नियम –

उत्तर भारत में चार गोत्र तक विवाह न करना विवाह के सन्दर्भ में प्रचलित है। ''इरावती कर्वे'' के शब्दो में हम कह सकते है कि इस व्यवस्था के अनुसार कोई भी व्यक्ति उस स्त्री से विवाह नहीं कर सकता है जो (1) उसके पिता के गोत्र की हो (2) उसके मॉं के गोत्र की हो (3) उसके पिता के मॉं (दादी) के गो़त्र की हो (4) उसके मॉं के मॉं (नानी) के गोत्र की हो । इसके अतिरिक्त हम यह भी कह सकते हैं कि इस नियम के द्वारा दो व्यक्ति, जो इन आठ गोत्रों में से किसी दो से सम्बद्व हैं, वे आपस में विवाह नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बहिर्गोत्रीय विवाह का नियम केवल अपनी वंश परम्परा के सदस्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु अन्य वंश परम्पराओं पर भी लागू होता है।

उपजाति मे विवाह –

उत्तर भारत में पायी जाने वाली जातियॅा और उपजातियॅा अनेक उपवर्गों में बॅटी है। प्रत्येक उपवर्ग अन्तर्विवाही इकाई है। यह इकाई, सीमित भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले रिश्तेदारों के समूह की श्रेणियों से बनती हैं। क्षेत्रीय जाति एवं धर्म के सन्दर्भ में अन्तर्विवाह के नियमों का महत्व स्पष्ट होता है। उत्तर भारत में प्रायः

अपने गॅाव से बारह–तेरह किलोमीटर दूर वाले गाँव में विवाह तय होते हैं तथा इन गाँवों के बीच आर्थिक सम्बन्ध भी सीमित क्षेत्र में रहने वाले कुछ नातेदारों के समूह तक ही फैले होते हैं। ''धर्मशास्त्र'' के अनुसार, विवाह के लिए इच्छुक दोनों पक्ष, प्रस्थिति में समान होने चाहिए। इसका अर्थ है, वर पक्ष एवं वधु में प्रस्थिति की समानता होनी चाहिए। अतः ब्राह्मण का विवाह ब्राह्मण से, क्षत्रिय का क्षत्रिय से, वैश्य का वैश्य से और शूद्र का विवाह शूद्र से हो।

अनुलोम/प्रतिलोम विवाह –

चतुर्वर्ण व्यवस्था में वर्णों के बीच अनुलोम विवाह की अनुमति थी। जब उच्च वर्ण के पुरूष का निम्न वर्ण की कन्या से विवाह होता है तो वह अनुलोम विवाह कहलाता है और जब निम्न वर्ण के पुरूष से उच्च वर्ण की कन्या का विवाह हो तो वह प्रतिलोम विवाह है। प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिलोम विवाह को दोषपूर्ण ही ठहराया गया है। अनुलोम विवाह की सन्तान, अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह की सन्तान को प्रतिलोम कहा गया है।

धर्मशास्त्र के अनुसार, अनुलोमज सन्तान को वे सभी स्थान प्राप्त हैं जो एक द्विज के हैं, अर्थात वे यज्ञोपवीत धारण करते हैं यज्ञ करते हैं एवं वेद पाठ कर सकते हैं। दूसरी ओर प्रतिलोमज सन्तान को शूद्र का स्थान मिलता है।

उत्तर भारत निषेधात्मक नियम के अनुसार एक पुरूष का अपने पिता के बहन की पुत्री से विवाह नहीं हो सकता, इसे विपर्यय मुक्त नियम कहते हैं।

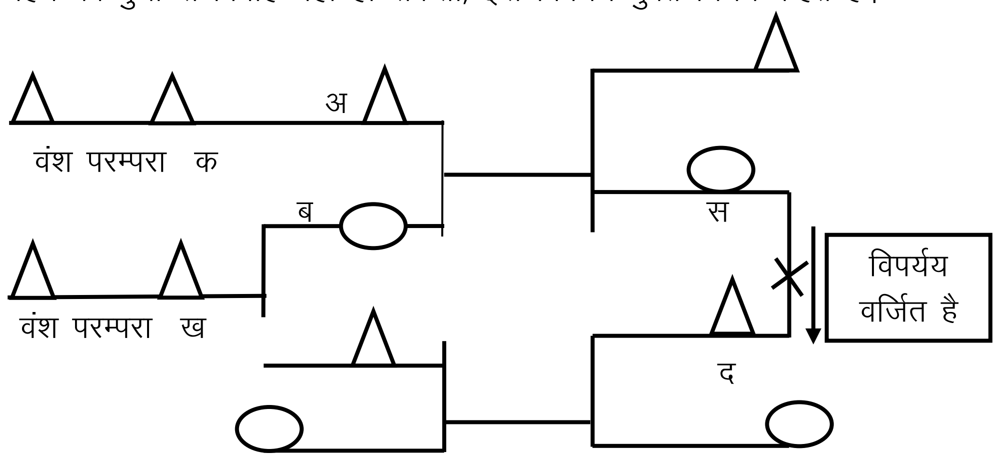

वंश परम्परा 'ख' ने अपनी लड़की 'ब' का वंश परम्परा 'क' के लड़के 'अ' से विवाह किया। इस तरह लड़के 'अ' को 'पॅाव पूज' की अनुष्ठानिक उच्च प्रस्थिति मिली। वंश परम्परा 'क' वर पक्ष है अतः उच्चस्तरीय है। वंश परम्परा 'ख' वधू पक्ष है अतः निम्नस्तरीय है। जब एक वार विवाह सम्बन्ध की दिशा 'ख' से 'क' ओर तय हो गयी, तो अगली पीढ़ी में विवाह सम्बन्ध की दिशा 'क' से 'ख' नही हो सकती। यदि 'अ' की पुत्री का विवाह वंश परम्परा 'ख' के पुरूष से होने लगे तो वंश परम्परा 'क' के द्वारा वंश परम्परा 'ख' को ऊँची अनुष्ठानिक प्रस्थिति देनी होगी। अतः यह विवाह उचित व्यवहार की भूमिकाओं को उल्टा कर देने वाला सिद्ध होगा। उत्तर भारत में इस विपर्यय को मान्यता नहीं दी गयी है।

इसके अतिरिक्त, दूसरा नियम यह है कि इसमें कोई भी व्यक्ति अपनी माँ के भाई की पुत्री से विवाह नहीं कर सकता है, इसे पुनरावृत्ति मुक्त नियम कहते हैं।

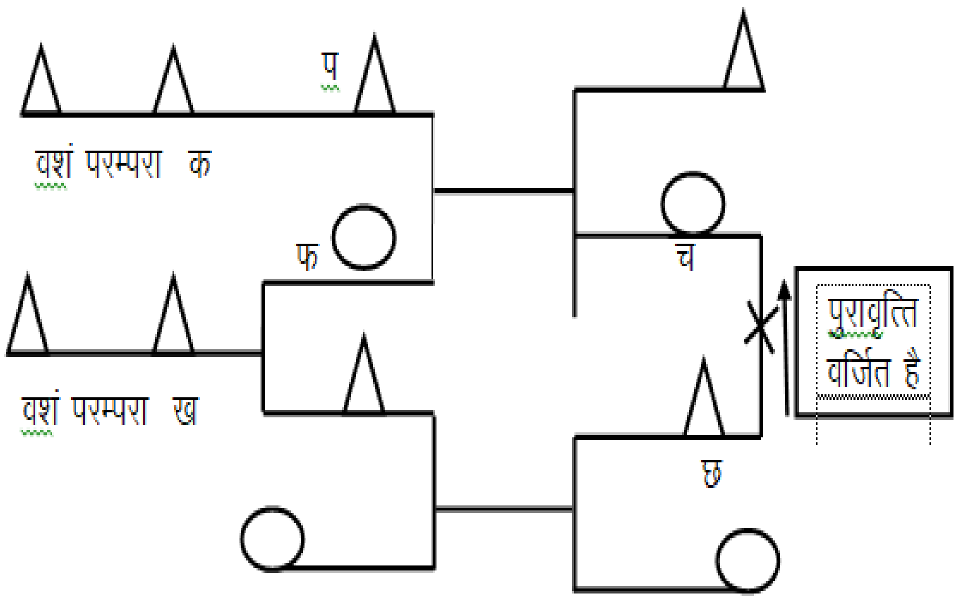

वंश परम्परा 'ख' ने वंश परम्परा 'क' के 'प' व्यक्ति से अपनी कन्या 'फ' का विवाह किया, अगली पीढ़ी में यदि वंश परम्परा 'ख' की कन्या 'छ' का विवाह वंश परम्परा 'क' के पुरूष 'च' से हो तो यह पुनरावृत्ति होगी।

8.5.2 नातेदारों के बीच उपहारों का औपचारिक आदान–प्रदान

जन्म से लेकर मृत्यु तक ऐसे अवसर आते है जब नातेदारों–रिश्तेदारों के बीच उपहारों का औपचारिक आदान–प्रदान होता है। नातेदारों के बीच उपहारों के आदान–प्रदान का अध्ययन करते हुए ''डयूमा'' ने बताया है कि मॉ के भाई के भाई के एक जैसे औपचारिक कार्य होते हैं क्योंकि एक पीढ़ी के अन्तराल में सहोदर नातेदार एवं वैवाहिक रिश्तेदार एक ही हो जाते हैं। इसी तथ्य को एल्ड्रीन सी. मेयर ने मालवा के एक गाँव में नातेदारी के अध्ययन में उपहारों के आदान– प्रदान को भाषा के माध्यम से समझाया है। मेयर ने पाया कि विवाह के समय दो तरह के उपहार दिए जाते हैं, एक है जो पिता के नातेदार देते हैं तथा दूसरा वह जो माँ के नातेदार देते हैं। मेयर के अनुसार पिता के नातेदार तीन अवसर पर उपहार देते हैं। लड़के/लड़की के विवाह के अवसर पर लड़के/लड़की के पिता के नातेदार रूपये भेंट देते हैं जो प्रायः उसके विवाह का खर्चा पूरा करने के लिए होता है। इसे 'बान' कहते हैं। दूसरा अवसर शिवचौनी का, जब पिता के नातेदार वधु को आभूषण या पशु भेंट करते हैं। तीसरा अवसर पहरवानी का, जब वधू के निकट के नातेदार वर तथा वर पक्ष के लोगों को भेंट देते हैं। कुछ स्थानो जैसे, पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के एक गाँव में मृतक संस्कार समाप्ति पर उपहार प्रदान करने की प्रथा है, जो लड़की के परिवार वाले करते हैं। इस प्रकार जीवनपर्यन्त उपहार का औपचारिक आदान–प्रदान होता रहता है।

8.6 नातेदारों के प्रकार

नातेदारी वह सम्बन्ध है जो लोगों को वंशगत, विवाह या दत्तक विधान के माध्यम से जोड़ता है। नातेदारी का आधार सम्बन्ध और अन्तःक्रिया है। यह दो प्रकार की होती है–

8.6.1 रक्तमूलक नातेदारों

रक्त सम्बन्धों से उत्पन्न सम्बन्धी, रक्तमूलक नातेदारी कहलाते हैं। जैसे, माता–पिता व बच्चों के बीच तथा सहोदरों का सम्बन्ध रक्तमूलक सम्बन्ध कहलाते हैं। भाई–बहन, चाचा, ताऊ, भतीजा सभी समरक्तीय सम्बन्ध में आते हैं। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि कई बार रक्त सम्बन्धी नातेदारी वास्तविक न होकर काल्पनिक भी हो सकते है, उदाहरण स्वरूप, नीलगिरि की बहुपति प्रथा वाली टोडा जनजाति में ''पुरसुरपिमी'' संस्कार को करने वाला व्यक्ति पिता कहलाता है। इस प्रथा के अनुसार, जो पति अपनी गर्भवती पत्नी को उसके प्रसव के पाँचवें माह में धनुष–बाण भेंट करता है, वही उस स्त्री की होने वाली सन्तान का पिता होता है। इसी प्रकार गोद लिया हुआ बच्चा भी माता–पिता से वही सम्बन्ध रखता है।

8.6.2 विवाह मूलक नातेदारों

इसमें उन नातेदारों को सम्मिलित करते हैं जो सामाजिक या कानूनी दृष्टि से विवाह सम्बन्धों द्वारा सम्बन्धित होते हैं उदाहरण स्वरूप, पति एवं पत्नी विवाह मूलक नातेदार हैं। पति और पत्नी के परिवार के अन्य सदस्य भी परस्पर विवाह सम्बन्धी ही हैं। जैसे–सास, ससुर, ननद, भाभी, जीजा, साला, साली, इत्यादि। साधारणतः विवाह के पश्चात् दोनों परिवारों के सदस्य अनेक रूपों में एक–दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसे, विवाह के पश्चात् एक व्यक्ति पति तो बनता है परन्तु साथ ही साथ वह बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, नन्दोई, मौसा भी बन जाता है। अतः इन नातेदारी सम्बन्धों का आधार विवाह ही है।

8.7 उत्तर और दक्षिण भारत में नातेदारी व्यवस्था

यहाँ पर हम उत्तर भारत और दक्षिण भारत में नातेदारी व्यवस्था की असमानताओं तथा समानताओं का वर्णन कर रहे हैं।

8.7.1 असमानताएँ

उत्तर भारत में विवाह के नकारात्मक नियमों के कारण नातेदारी की अलग विशेषता है और दक्षिण भारत में विवाह के सकारात्मक नियमों के कारण अपनी अलग विशेषता है। उत्तर भारत में विवाह परम्परा में एक परिवार दूसरे नए परिवार से सम्बन्ध बनाता है परन्तु दक्षिण भारत में विवाह सम्बन्ध सामान्यतः नातेदारों के समूह के मध्य होता है और यहाँ माता और पिता के नातेदारों पर जोर देते हैं। उत्तर भारत में अन्य उपजातियों में विवाह का प्रचलन है। इस प्रकार सकारात्मक और नकारात्मक विवाह नियमों के आधार पर हमें उत्तर और दक्षिण भारत में नातेदारी सम्बन्धों के अलग–अलग रूप देखने को मिलते हैं।

नातेदारी समूह की संरचना में भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत में पृथक्कीकरण है। उत्तर भारत में रक्त सम्बन्धी और विवाह सम्बन्धी दोनों अलग–अलग होते हैं परन्तु दक्षिण भारत में नातेदारी शब्दावली में विवाह के लिए रक्त सम्बन्धियों के बीच सम्बन्धों पर अधिक जोर देते हैं।

उत्तर भारत में अनुलोम विवाह के सिद्वान्तों का पालन किया गया है। जिसका तात्पर्य है, वर पक्ष का स्तर वधू पक्ष से ऊँचा होना चाहिए। दक्षिण भारत में ऐसा नही होता क्योंकि मातृवंशीय और कभी–कभी पितृवंशीय विवाह अधिमान्य है। इस स्थिति के कारण दक्षिण भारत में लड़के वालों को लड़की वालों से श्रेष्ठ सिद्व नहीं किया जा सकता है, अर्थात, पहले से ही जहाँ घनिष्ठ नातेदारी सम्बन्ध है विवाह के बाद उन्हें नीचा या ऊँचा नहीं बनाया जा सकता है।

उत्तर भारत में विवाह के बाद लड़की पूर्णतः अपरिचित परिवार के मध्य प्रवेश करती है और अपने पिता का घर त्याग देती है। पिता के घर के व्यवहार से विवाह के पश्चात् उसका व्यवहार पूर्णतः भिन्न होता है। दक्षिण भारत में लड़की के जन्म के परिवार और विवाह के परिवार में बहुत कम अन्तर होता है। अपने पति के घर से वह अपरिचित नहीं होती । अतः स्त्री की स्थिति की दृष्टि से भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत में काफी असमानताएँ हैं।

8.7.2 समानताऍ

अभी हमने उत्तर भारत और दक्षिण भारत के नातेदारी सम्बन्धों के बीच असमानता की चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दोनों में कोई मेल नहीं है। वास्तविकता यह है कि उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों में जाति और नातेदारी जटिल रूप से जुड़ी हुई है। छुआछूत का विचार रक्त की शुद्वता को बचाए रखने के रूप में नातेदारी व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। यह बात, उत्तर भारत और दक्षिण भारत में समान रूप से है।

इन दोनां नातेदारी व्यवस्थाओं में एक वंश परम्परा को भी मान्यता दी गयी है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों पद्वतियों में या तो मातृवंश परम्परा या पितृवंश परम्परा प्रचलित है। विवाह चाहे मातृवंश परम्परा में हो या पितृवंश परम्परा में, दोनों ही क्षेत्रों में नातेदारी व्यवस्था को विशेष महत्व दिया जाता है। लड़के वालों और लड़की वालों में भेद उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों में ही माना जाता है।

ड्यूमा ने उत्तर भारत और दक्षिण भारत में नातेदारी व्यवस्थाओं में अन्तर्निहित समानताएँ पता करने का भी प्रयास किया है। उनके अनुसार, उत्तर और दक्षिण भारत में लड़की वालों और लड़के वालों के मध्य भेद की मान्यता नातेदारी व्यवस्था में मूलभूत समानता प्रदर्शित करती है।

8.8 विवाह के समय नातेदारी में आदान–प्रदान

विवाह में वस्तुओं का आदान–प्रदान भी एक प्रकार की रस्म है, इसमें भौतिक वस्तुओं का आदान–प्रदान होता है। इसमें सर्वप्रथम वर पक्ष की ओर से वधू मूल्य दिया जाता है। तत्पश्चात् वधू पक्ष की ओर से वर पक्ष को दहेज दिया जाता है। वधू मूल्य और दहेज में जिन वस्तुओं का आदान–प्रदान होता है उनकी चर्चा हम आगे करेंगे–

8.8.1 वधू मूल्य

प्रत्येक विवाह में साधरणतः वधू अपने पिता का घर छोड़कर वर के घर जाती है। अतः वर को वधू मूल्य देना पड़ता है। पितृवंशीय जनजातियों और मध्यम और निम्न श्रेणी की कुछ जातियों में वधूमूल्य की परम्परा पायी जाती है। इसमें कुछ लोग केवल रूपये देते हैं, कुछ रूपये और गहने देते हैं। कुछ वस्त्र, आभूषण तथा श्रृंगार का सामान देते हैं और कुछ अनाज, पशु, मदिरा आदि भी देते हैं। उदाहरण के लिए छोटा नागपुर की उरांव जनजाति और उड़ीसा की भूमिया के लोग साड़ी, रूपये और बकरी भी देते है।

इस प्रकार के आदान प्रदान से लड़की की प्रतिष्ठा उसके मायके में बनी रहती है। कोई यह नहीं कह पाता है कि वर पक्ष ने खाली लिया है, दिया कुछ नहीं।

8.8.2 दहेज

जिस प्रकार वर पक्ष की ओर से वधू मूल्य दिया जाता है, उसी प्रकार वधू पक्ष की ओर से वर पक्ष को दहेज दिया जाता है। दहेज में कुछ उपहार रूपये, जेवर, कपड़े, बर्तन, फर्नीचर, गाड़ी इत्यादि दिया जाता है। दहेज देने से दोनों पक्षों को प्रतिष्ठा एवं मान मिलता है। वधू पक्ष दहेज देकर अपने समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और वर पक्ष दहेज पाकर अपने समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

परन्तु यह दहेज प्रथा, हिन्दू समाज की एक ज्वलन्त समस्या बन गयी है। इसने विवाह जैसे संस्कार को एक व्यवसाय का रूप दे दिया है। दहेज में वधू के पिता अपनी स्वेच्छा तथा सामर्थ्य से जितना सम्भव हो वर पक्ष को देता है, परन्तु यह प्रथा आज विकृत रूप धारण कर चुकी है एवं स्त्रियों को इसके दुष्परिणाम का सामना करना पड़ रहा है। वर्तमान समय में वर के पिता यह देखते हैं कि जिस लड़की के पिता अधिक दहेज दे सकते है, उसी से अपने लड़के का विवाह तय करते हैं।

कुछ लोग इसे वर मूल्य मानते हैं क्योकि उनके अनुसार वर को दिया गया यह मूल्य वर की योग्यता, नौकरी और उसके सामाजिक स्तर पर निर्भर करता हैं। वर द्वारा मॉगे गए मूल्य का भुगतान वधू पक्ष के लिए सम्भव हो या नहीं, परन्तु लेन–देन करना ही पड़ता है, चाहे वधू के माता–पिता कहीं से भी उसकी व्यवस्था करें।

उच्च शिक्षा के कारण दहेज का प्रचलन और बढ़ गया है। शिक्षित लड़कियॉ ऐसे लड़कों को पसन्द करती है जो उनसे ज्यादा शिक्षित हो और उच्च शिक्षा प्राप्त लड़के ज्यादा दहेज की माँग करते हैं। दहेज की माँग में वृद्वि के फलस्वरूप माता–पिता प्रायः अपनी पुत्रियों का विवाह करने में समर्थ नहीं होते और उन पर दहेज का दबाव बढ़ता जाता है और यदि किसी तरह से विवाह हो भी जाता है तो दहेज की माँग पूरी न होने के कारण वर, वधू से तलाक ले लेता है और पुनर्विवाह करने का विचार करता है।

8.8 विवाह और नातेदारी में सम्बन्ध

एक शिशु जिस परिवार में जन्म लेता है वह उसका जन्म सम्बन्धी या रक्तमूलक परिवार है। अपने इस परिवार को आगे बढ़ाने के लिए वह विवाह करता है और एक दूसरे परिवार से जुड़ जाता है एवं विवाह होते ही उस अन्य परिवार के लोग उसके नातेदार बन जाते हैं।

'लेवी स्ट्रॉस' के अनुसार, मानव समाज मे लोग झुण्ड़ों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर कन्दमूल इकट्ठा कर व शिकार कर जीवनयापन करते थे। उस समय एक झुण्ड के पुरूष अपने झुण्डों की महिलाओं को, दूसरे झुण्डों के पुरूषों से विवाह करते थे और उन झुण्डों की महिलाओं से स्वयं विवाह करते थे। इस तरह झुण्डों के बीच विवाह सम्बन्ध के माध्यम से सामाजिक संबंधों की स्थापना होती थी। इस तरह के उदाहरण हमें दक्षिण भारत, श्रीलंका, उत्तर अमेरिका, दक्षिण अमेरिका और दक्षिण प्रशान्त से मिलते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि विवाह द्वारा नातेदारी सम्बन्धों में वृद्वि होती है।

8.10 सारांश

इस इकाई में हमने सर्वप्रथम विवाह के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इसके बाद हमने विवाह के प्रकारों की व्याख्या की है जिसमें एकल विवाह, बहु विवाह और समूह विवाह सम्मिलित इसके पश्चात नातेदारी की प्रकृति को स्पष्ट किया गया है और उसके प्रकारों का वर्णन किया गया है। नातेदारी के प्रकारों में रक्तमूलक नातेदारी और विवाह मूलक नातेदारी की व्याख्या की गयी है। इस इकाई में हमने उत्तर और दक्षिण भारत नातेदारी व्यवस्था का वर्णन और सामाजिक व्यवहारों की व्याख्या भी की है। अन्त में, विवाह और नातेदारी में सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है।

8.11 बोध प्रश्न

1. विवाह को परिभाषित कर इसके उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए।
2. विवाह के प्रकारों को स्पष्ट कीजिए। विवाह का कौन सा प्रकार किन क्षेत्रों में पाए जाते हैं यह भी बताइए।
3. नातेदारी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विवाहमूलक नातेदारी की व्याख्या कीजिए।
4. विवाह और नातेदारी में सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
5. भारतवर्ष में अधिकांश परिवार।

   (1) पितृसत्तामक (2) मातृसत्तामक

   (3) एकांकी (4) विस्तृत

   उत्तर 5 (1)
6. पिता पुत्र नातेदारी हैं।

   (1) रक्त मूलक (2) विवाह मूलक

   (3) द्वैतीयक (4) तृतीयक

   उत्तर 6 (1)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-101

समाज का अध्ययन

खण्ड – 3

समाजीकरण तथा f'k{kk

इकाई–9	सामाजीकरण की अवधारणा एवं प्रकृति	**117–132**
इकाई–10	समाजीकरण के अभिकरण – प्राथमिक एवं द्वैतीयक	**133–144**
इकाई–11	अनौपचारिक शिक्षा एवं समाजीकरण	**145–156**
इकाई–12	औपचारिक शिक्षा और समाजीकरण	**157–164**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGSY- 101

परामर्श समिति

प्रो० के० एन० सिंह (अध्यक्ष) — **कुलपति,** उ0 प्र0 राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

डॉ० ए० के० गुप्ता — **कुलसचिव,** उ0 प्र0 राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो० के० के० मिश्र — प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग दी0 द0 उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर–273001

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. **डॉ० एम० एन० सिंह** – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
2. **डॉ० इति तिवारी** – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
3. **श्री रमेशचन्द्र यादव** – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

UGSY-101(N) – समाज का अध्ययन

1. **डॉ० संगीता पान्डेय,** विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, दी0 द0 उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
2. **श्री रमेशचन्द्र यादव,** शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
3. **डॉ० इति तिवारी,** पूर्व एसो० प्रोफेसर समाजशास्त्र, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
4. **डॉ० इन्द्रजीत मिश्र,** रीडर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र, भगवान महावीर पी. जी. कालेज, फाजिलनगर कुशीनगर।

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

ISBN- 978&93&83328&38&3

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ें आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड–3 परिचय समाजीकरण तथा शिक्षा

खण्ड–3 में जिन अवधारणाओं को व्यक्त किया गया है वे अग्रलिखित है–

इकाई–9 में समाजीकरण की अवधारणा एवं प्रकृति, विभिन्न विचारकों द्वारा वर्णित समाजीकरण की परिभाषा, उसकी महत्ता तथा प्रमुख सिद्धान्त–कूले, मीड, फ्रायड तथा दुर्खीम का वर्णन है।

इकाई–10 में समाजीकरण के अभिकरण–प्राथमिक एवं द्वैतीयक का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

इकाई–11 में समाजीकरण मे अनौपचारिक शिक्षा की महत्ता का वर्णन किया गया है।

इकाई–12 में समाजीकरण में औपचारिक शिक्षा के योगदान की चर्चा है। शिक्षा सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है जिसे औपचारिक शिक्षण संस्थाएँ सम्पादित कर रहीं है।

इकाई–9

समाजीकरण, अवधारणा एवं प्रकृति

इकाई की रूपरेखा–

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 समाजीकरण

9.3 समाजीकरण की आवश्यकता

9.4 समाजीकरण की अवधारणा एवं प्रकृति

9.5 समाजीकरण के सिद्धान्त

- **9.5.1** मीड का सिद्धान्त (आई और मी)
- **9.5.2** कूले का आत्मदर्पण का सिद्धान्त
- **9.5.3** फ्रायड का सिद्वान्त (इड, इगो, सुपर इगो)
- **9.5.4** दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धांत

9.6 सारांश

9.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.8 परीक्षापयोगी प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे–

- समाजीकरण क्या है।
- समाजीकरण की आवश्यकता, अवधारणा एवं प्रकृति।
- समाजीकरण के सिद्धान्त।
- मीड, कूले, फ्रायड, दुर्खीम का सिद्धान्त।

9.1 प्रस्तावना

जन्म के समय मानव प्राणी न तो सामाजिक होता है और न ही समाज विरोधी। वह केवल रक्त मॉस और नैसर्गिक प्रवृत्तियों से बना हुआ एक जैविकीय प्राणी मात्र होता है। समाजीकरण उसे समाज में मान्य व्यवहार व नियम की सीख

देता है जिससे वह सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। समाजीकरण समाज के नियमों के अनुसार सीख की प्रक्रिया है।

9.2 समाजीकरण

जैविक व्यक्ति का सामाजिक प्राणी में रूपान्तरण समाजीकरण है। मनुष्य अन्य जीवधारियों से श्रेष्ठ केवल इसलिए है क्योंकि उसका समाजीकरण होता है और अनुकरण और सीख की प्रक्रियाओं से संस्कृति के तत्वों को अपनाता है। जॉनसन ने अपनी पुस्तक 'Sociology' में लिखा है कि मानव शिशु जन्म के समय किसी भी मानव समाज में भाग लेने योग्य नहीं होता। उसका मानसिक स्तर किस प्रकार का है उसे प्रत्यक्ष रूप से नहीं जाना जा सकता। उसे अपने शरीर के अंगों को दिखाने में कोई संकोच नहीं होता। वस्तुतः उसे अन्य वस्तुओं से स्वतन्त्र अपने शरीर के आस्तित्व का आभास ही नहीं होता। वह यह भी नहीं जानता कि उसके हाथ की अंगुलियां और पैर की अंगुलियां एक शरीर के दो विभिन्न अंग है। उसे अपने स्वत्व/अहं 'Ego' जिसकी इच्छाएं दूसरे व्यक्तियों के इच्छाओं के अनुकूल हो अथवा विपरीत का भी विचार नही होता। इस प्रकार नवजात अपनी स्वयं की अस्पष्ट सी आन्तरिक जिन्दगी को स्वतन्त्र आस्तित्व वाले वस्तु जगत के पदार्थ से भिन्न नहीं कर पाता है। उसे यह भी नहीं मालूम कि इस प्रकार के अन्तर सम्भव है? सम्पत्ति सम्बन्धी विचार, आवेग, संवेग का नियमन तथा तर्क सम्बन्धी विचार की अवधारणा नवजात शिशु को नहीं होती।[01]

9.3 समाजीकरण की आवश्यकता

एक व्यक्ति को मनुष्य बनने का श्रेय समाजीकरण की प्रक्रिया को है। व्यक्ति से यदि मानवोचित व्यवहार की आशा करनी है तो यह आवश्यक है कि उसका समाजीकरण किया जाय। समाजीकरण से तात्पर्य केवल समाज के आदर्शों और सामाजिक प्रतिमानों को सीखने से ही नहीं है अपितु यह सीखने की वह प्रक्रिया है जो व्यक्ति को उसकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि से अनुकूलन करना सिखाती है। बालक जन्म के समय न तो सामाजिक कहा जा सकता है और न ही असामाजिक। उसे तो एक जीवित प्राणी ही मानना अधिक उचित होगा क्योंकि उस समय वह केवल अपनी जैविक अथवा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है। इन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसमें धीरे–धीरे सीखने की क्रिया शुरू हो जाती है। सामाजिक शिक्षण के अभाव में बच्चों का सामाजिक विकास सम्भव नहीं। इस वक्तब्य का समर्थन हमें उन उदाहरणों से मिल जाता है जिनमें बच्चे किन्हीं कारणों से समाज से अलग कर दिये गए और उनका समाजीकरण नहीं हो सका। अरस्तू ने बहुत पहले कहा था कि 'मानव एक सामाजिक प्राणी है' सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में ही मानव की कल्पना की जा सकती है। मैकडूगल का विचार है कि मूल प्रवृति और सामूहिकता में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अनेक सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सामाजिकता जन्म से ही होती है। जिन व्यक्तियों को दूसरे मनुष्यों का संसर्ग नही मिला वे या तो मर गए और यदि कुछ दिनों तक जीवित बचे भी रहे तो उनका व्यक्तित्व विघटित पाया गया। एक सामाजिक व्यक्ति

बनने तथा मानवीय व्यवहारों को सीखने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति समाज में रहे। गेसेल तथा डेविस दोनों विचारकों ने ऐसे अनेक अध्ययनों का उल्लेख किया है कि जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि समाज का संसर्ग मानव व्यक्तित्व के विकास में सर्वोपरि है। यदि समाजीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति नहीं गुजरता तो वह भी एक पशु की तरह रहेगा और शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा।[01] अब हम कुछ ऐसे प्राणियों की जीवनी को उद्घृत करेंगे जिससे समाजीकरण की आवश्यकता स्पष्ट हो सकेगी –

(1) अबेरान जंगल से प्राप्त एक लड़का –

फ्रांस के अबेरॉन जंगल से एक लड़का प्राप्त हुआ। यह लड़का फ्रांस की तीसरी क्रान्ति के दस वर्ष बाद तीन शिकारियों द्वारा प्राप्त किया गया था। जिस समय यह लड़का मिला उसकी आयु 10–11 वर्ष थी। इस लड़के का नाम 'विक्टर' रखा गया। वह जानवरों की भांति नंगा रहता था। स्वच्छता और गन्दगी का आभास उसे नहीं था। वह गुफा में रहना पसंद करता था। अपने मन के अनुकूल व्यवहार को न पाकर वह अन्य लोगों को काटने दौड़ता था। जो व्यक्ति उसके खाने–पीने का प्रबन्ध करते थे उनपर भी वह सहानुभूति नहीं दिखलाता था। वह कुछ भी नहीं बोल पाता था। पशुओं की तरह वह खाना खाता था। सोते समय अपने शरीर को ढ़कने के लिए कपड़े का प्रयोग नहीं करता था। कुर्सी पर वह बैठ नहीं सकता था और न ही दरवाजा खोल सकता था। इस सभी व्यवहारों को देखकर लोगों ने यह अनुमान लगाया कि तीन–चार वर्ष की अवस्था में ही यह खो गया होगा। फ्रांस के मनोवैज्ञानिक 'पिनेल' ने यह कहकर उसे छोड़ दिया कि वह जड़ है क्योंकि उसकी बुद्धि मात्र एक वर्ष के लड़के की तरह ही विकसित हो पायी है। लेकिन दूसरे मनोवैज्ञानिक 'इटार्ड' ने कहा कि यदि जड़ बृद्धि होती तो वह जीवित नहीं रह पाता। अतः उन्होने इस बच्चे का पालन पोषण शुरू किया। बच्चे की देखभाल के लिए एक नर्स का प्रबन्ध किया गया। नर्स उसे रोज नहलाती थी, कपड़े पहनाती थी। धीरे–धीरे बच्चा गर्मी और सर्दी में अन्तर महसूस करने लगा। कुछ दिनों बाद वह दूसरे मनुष्यों के बातों को भी समझने लगा। यदि उसे दूध की आवश्यकता होती थी तो वह दूध का बर्तन आगे कर देता था क्योंकि वह बोलना नहीं सीख सका था। विभिन्न प्रशिक्षणों के बाद वह जंगली लड़का समाज में रहने लायक बन गया और लिखकर अपनी आवश्यकताओं को व्यक्त करने लगा। 'इटार्ड' ने लिखा है कि 'विक्टर' ने जंगलीपन की अवस्था से यह तो सीख लिया कि किस प्रकार मानव समाज में रहना चाहिए तथा साधारण इच्छाओं को किस प्रकार एक लिखित भाषा में व्यक्त करना चाहिए लेकिन उसनें अपने अन्य हमउम्रों से कभी भी योग्यता की समानता नहीं की। बचपन में मानव समाज की कमी ने उस बालक में इतनी रूकावटें पैदा कर दी कि अनेक बड़े प्रयत्नों के बाद भी वह इतनी कम सामाजिकता सीख सका।[01] 1928 ई0 में लगभग 40 वर्ष की आयु में उसकी मुत्यु हो गयी।

(2) भेड़ियों की मॉद से प्राप्त लड़कियॉ (कमला और अमला) –

बंगाल में 1920 ई0 में पादरी जे0 सिंह को भेड़ियों की मॉद से दो लड़कियॉ प्राप्त हुयी। एक लड़की जो 08 वर्ष की थी उसका नाम कमला रखा गया और जो लड़की डेढ़ वर्ष की थी उसका नाम अमला पड़ा। ये दोनो लड़कियॉ भेड़ियों की तरह व्यवहार करतीं थीं। हाथ पॉव के सहारे चलतीं थीं। दिन में चुप–चाप बैठी रहतीं थीं लेकिन रात में वे इधर–उधर घूमती रहती थीं भेड़ियों की तरह वे आवाज निकालती थीं। कच्चा मॉस खाना अधिक पसंद करती थीं। उन्हे गर्म तथा ठंड में अन्तर नहीं मालूम पड़ता था। पादरी जे0 सिंह की पत्नी ने उन बच्चियों को सामाजिक बनाने का संकल्प लिया। वे बच्चियॉ भी श्रीमती सिंह को चाहने लगीं। लेकिन अन्य बच्चों के पास वे नहीं जातीं थी। मिलने के 11 महीने के बाद छोटी

लड़की अमला का देहान्त हो गया। कमला को इसका इतना हार्दिक दुःख हुआ कि दो दिनों तक उसने न तो पानी पिया और न तो कुछ खाया। कमला धीरे–धीरे मानवोचित व्यवहारों को सीखने लगी। वह अपने हाथ से पंखा चलाना सीख गयी और अंधेरे स्थानों में जाने से डरने भी लगी। पॉच वर्ष बाद वह पैर से चलना सीख गयी। जब उसकी अवस्था 15 वर्ष की हो गयी तब वह केवल दो वर्ष के बच्चे के समान बोल पाती थी। 17 वर्ष की अवस्था में जब उसकी मृत्यु हुई उस समय तक वह केवल 45 शब्दों को सीख सकी थी। इन दोनो बालिकाओं में ज्ञानेन्द्रियॉ, स्नायुमण्डल तथा मॉसपेशियॉ थीं लेकिन सामाजिक पर्यावरण की कमी के कारण वे सामाजिक व्यवहारों को प्रकट करने में असमर्थ रहीं।

(3) अन्ना –

अमेरिका में 1938 ई0 में एक बालिका जिसकी आयु पॉच वर्ष की थी एक कमरे में बंद पायी गयी। वह बालिका एक कुर्सी से बंधी हुयी थी। जिस समय वह पायी गयी उस समय उसका शरीर केवल हड्डियों का एक ढ़ॉचा मात्र था। वह न तो बोल सकती थी और न तो चल फिर सकती थी। लोगों का यह अनुमान था कि शायद वह अवैध सन्तान थी। अपने पॉच वर्ष के जीवन में वह किसी भी व्यक्ति से मिल नहीं सकी थी। दूध के अतिरिक्त वह कोई दूसरी चीज नहीं खाती थी। जब उसे अस्पताल में रखकर सहानुभूति पूर्वक उसका लालन–पालन शुरू किया गया तो देखा गया कि उसकी हालत में सुधार हो रहा है। उसे एक स्कूल में दाखिला भी दिलाया गया। धीरे–धीरे उसने विभिन्न व्यवहारों को सीखना शुरू किया। 1942 ई0 में वह विभिन्न इशारों को समझ लेती थी और विभिन्न प्रकार के रंगों में अन्तर भी कर लेती थी, कुछ शब्दों को वह बोलने लगी। 1942 ई0 में उसकी मृत्यु हो गयी।

(4) इजावेल –

1938 में यह लड़की 5 वर्ष की आयु में पायी गयी थी। इसकी मॉ गूंगी और बहरी थी। यह बालिका भी एक अवैध सन्तान थी। यह आदमियों को देखकर उनसे डरती थी। किसी भी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों से वह अवगत नहीं थी। शुरू–शुरू में जब उसे बोलना सिखाया जाने लगा तो बड़ी कठिनाई का अनुभव किया गया। धीरे–धीरे वह कुछ बोलने लगी। मिलने के सात महीने के बाद वह 2000 शब्दों को समझने लगी और कुछ आसान प्रश्न भी पूछने लगी। उसे एक पब्लिक स्कूल में दाखिला दिलाया गया जहॉ उसने छठीं कक्षा पास की, वह स्कूल के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने लगी।

(5) कॉस्पर हासर –

अमेरिका के न्यूरमेवर्ग की सड़कों पर 1938 ई0 में एक बालक जिसका नाम कॉस्पर हासर था पाया गया। कुछ लोगों का विचार है कि राजनैतिक षड़यन्त्रों के कारण से ही उसे शुरू से मानव समूह से अलग कर दिया गया था। जब वह पहली बार सड़क पर देखा गया तो उसकी हालत बड़ी दयनीय थी। उसे सीधा खड़ा होने में भी कठिनाई होती थी। उसे भाषा का ज्ञान नहीं था। जीवित तथा अजीवित चीजों में वह भेद नहीं कर सकता था। उसके मरने के बाद जब उसकी चीर–फाड़ की गयी तो पता चला कि वह मानसिक रूप से अन्य बालकों की तुलना

में अत्यंत हीन था। इस हीनता का कारण उसके जैविक गुणों की कमी नहीं थी बल्कि इसका एक मात्र कारण समाजीकरण की प्रक्रिया का अभाव था।

(6) रामू और परशुराम –

दो बच्चे उत्तर प्रदेश में पाये गये जिन्हे जंगली पशु उठा ले गये थे। 1954 ई0 में रामू नाम के बालक को लखनऊ के रामपुर अस्पताल में भर्ती किया गया। 1956 ई0 में परशुराम को आगरा के अस्पताल में रखा गया। इन दोनों बालकों में मानवोचित गुण नहीं थे। वे अपना सभी व्यवहार पशुओं की भांति करते थे।

उपरोक्त सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि सभी बच्चों में यद्यपि मूलभूत संवेग थे परन्तु सामाजिक पर्यावरण के अभाव में वे सामाजिक नहीं बन सके थे। उनमें सामाजिकता के गुणों का विकास तभी शुरू हुआ जब वे अन्य सामाजिक व्यक्तियों के सम्पर्क में आये और उनसे अन्तःक्रिया किए। इन बच्चों में पहले केवल तीन मूल संवेगों क्रोध, भय तथा स्नेह का ही विकास हो पाया था। अन्य संवेगों का ज्ञान जिनका महत्व सामाजिक जीवन में अधिक था उनमें नहीं था। अथक प्रयास के बाद भी उनमें अन्य संवेगों का विकास नहीं हो सका। इसका एक मात्र कारण यह है कि जीवन के प्रथम तीन वर्ष ही इन संवेगों के विकास के लिए आवश्यक है और जिसके लिए मानव सम्पर्क तथा सामाजिक अन्तःक्रिया आवश्यक है। सामाजिक पर्यावरण से अलग रहने पर बच्चों का सामाजिक तथा मानसिक विकास रूक जाता है। अतः यह सिद्ध होता है कि मानवोचित गुणों के विकास के लिए समाजीकरण आवश्यक है।

उपरोक्त वर्णित उदाहरण समाजीकरण के चार प्रयोजनों की ओर इंगित करते हैं।

(1) सामाजिक क्षमता में वृद्धि –

समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति में सामाजिक क्षमता के गुणों का विकास होता है। इन्हीं गुणों में वृद्धि के कारण मनुष्य की सामाजिक अनुकूलन की क्षमता भी बढ़ती है। समाज में सफलतापूर्वक जीवन यापन के लिए सामाजिक अनुकूलन आवश्यक है। विभिन्न कालों तथा स्थानों पर व्यक्ति का व्यवहार किस प्रकार का हो इसकी जानकारी उसे सामाजिक क्षमता और उसमें वृद्धि के द्वारा हो पाती है।

(2) अनुशासन में वृद्धि –

सामाजिक जीवन के लिए अनुशासन आवश्यक है। अनुशासन नियम बद्ध व्यवहार के द्वारा प्राप्त किया जाता है। समाजीकरण भी नियम बद्ध व्यवहार के लिए प्रेरित करता है। व्यक्ति की मूलभूत प्रवृतियां उसे स्वछन्द जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करती हैं। समाजीकरण इसे एक उचित दिशा देकर स्वछन्दता को मात्र स्वतन्त्रता रहने देता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वांछनीय व्यवहार करना चाहिए जो समाजीकरण के द्वारा सम्भव है।

(3) आकांक्षाओं की पूर्ति –

अनुशासित व्यक्ति नियमबद्ध व्यवहार करके अपनी आकांक्षाओं को पूरा करता है। आकांक्षाओं की पूर्ति सामाजिक विरासत को समृद्ध करती है। यही उद्देश्य समाजीकरण का भी है। इसी के कारण ही कोई समाज विकसित समाज की संज्ञा पाता है।

(4) सामाजिक कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना –

समाज में व्यक्ति की अनेक प्रस्थिति होती है। जिसके अनुरूप उसे व्यवहार करना होता है। भिन्न–भिन्न समय, स्थानों में विभिन्न प्रस्थितियों के अनुरूप व्यवहार के कारण ही सामाजिक संरचना में एकीकरण बना रहता है अन्यथा विचलन और तत्पश्चात नियम हीनता की स्थिति अवतरित हो जाती है। समाजीकरण व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में उसके प्रस्थितियों का आभास कराते हुए भूमिकाओं के प्रति सजग करता है जिसके कारण समाज में द्वन्द की स्थिति से बचा जाता है।

इस प्रकार समाजीकरण व्यक्तिओं को समाजोचित व्यवहार के योग्य बनाते हुए उन्हे अपनी आवश्यकताओं को भी अनुशासित ढ़ंग से पूरा करने के लिए प्रशिक्षित करता है जिसके कारण समाजिक संगठन सुचारू रूप से चलता रहता है।[01]

9.4 समाजीकरण की अवधारणा एवं प्रकृति

एक नवजात शिशु हाड़–मांस का एक पुतला मात्र होता है। वह अकेले मानवोचित किसी भी क्रिया–कलाप, गतिविधि में भाग नहीं ले सकता। जन्म के समय वह इतना असहाय होता है कि अपने शरीर के अंगों में ही भेद नहीं कर सकता। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उसका 'स्व' 'Self' अभी विकसित नहीं है। मानव और पशु में व्यवहारों की असमानता अधिक है, यद्यपि उनकी शारीरिक बनावटों में अन्तर नहीं होता। सभी बहुकोषीय जीवधारियों की जैविक विशेषताएँ लगभग समान होतीं हैं फिर भी मानव श्रेष्ठ है क्योंकि उसका समाजीकरण होता है। एक शिशु अपने परिवार के अन्य सदस्यों के व्यवहारों को तभी सीख सकता है, जब वह उस परिवार का एक सक्रिय सदस्य होगा। अन्य व्यक्तियों के अभाव में वह कभी भी समाजोचित व्यवहारों को नहीं अपना सकता। समाज से दूर कर एक शिशु के मानसिक संतुलन को स्थिर नहीं रखा जा सकता। समाज के अन्तःक्रिया के अभाव में वह एक विघटित व्यक्ति बन जायेगा। सामाजिक विरासत के तत्वों को अपनाने के लिए मानसिक सम्पर्क आवश्यक है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही एक व्यक्ति मानवोचित व्यवहारों को सीखता है और समाज के प्रचलित प्रथाओं, व्यवहार के तरीकों तथा बोलचाल का ढ़ंग को अपनाकर समाज का सक्रिय सदस्य बनता है।

समाजीकरण से तात्पर्य समाज के मान्यव्यवहारों को विभिन्न साधनों द्वारा सीखने से है। समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है।

प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा समाजीकरण की अवधारणा को अग्रलिखित प्रकार से व्यक्त किया गया है –

एच. एम. जानसन ने अपनी पुस्तक 'सोसियोलोजी' में लिखा है कि "समाजीकरण से तात्पर्य सीखने से है ताकि व्यक्ति सामाजिक कार्यों को कर सके।"

जानसन की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सामाजिक सीख के माध्यम से सामाजिक व्यवहार प्रतिमान को अपनाया जाता है।

किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक "ह्यूमन सोसायिटी" में लिखा है कि "समाजीकरण से अर्थ उस प्रक्रिया से है जिससे किसी व्यक्ति को सामाजिक व्यक्ति बनाया या समाजीकृत किया जाता है।" इस परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया कि समाजीकरण एक प्रक्रिया है। प्रक्रिया का तात्पर्य उस परिवर्तन से है जिसमें निरंतरता का बोध हो। यदि समाजीकरण प्रक्रिया है तो वह आजीवन जन्म से मृत्यु के समय तक चलेगी।

आगबर्न और निमकाफ ने अपनी पुस्तक "ए हैण्डबुक आफ सोसियोलोजी" में लिखा है कि "समाजीकरण एक प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति समूह में चलनों के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है।

किंवलयंग ने अपनी पुस्तक "ए हैण्डबुक आफ सोशल साइकोलोजी" में लिखा है कि समाजीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिससे व्यक्ति सामाजिक एवं सांस्कृतिक समाज में प्रवेश करता है और जिससे वह समाज का और उसके विभिन्न समूहों का सदस्य बन जाता है तथा उस समाज के मूल्यों एवं मानों को स्वीकार करने के लिए प्रेरित होता है।

समाजीकरण की प्रक्रिया –

समाजीकरण जन्म के समय से प्रारम्भ होकर जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता रहता है। गिलिन एवं गिलिन ने अपनी पुस्तक "कल्चरल सोसियोलोजी" में समाजीकरण की प्रक्रिया को तीन स्तरों में विभाजित किया है। (1) बाल्यावस्था (2) युवावस्था (3) प्रौढ़ावस्था।

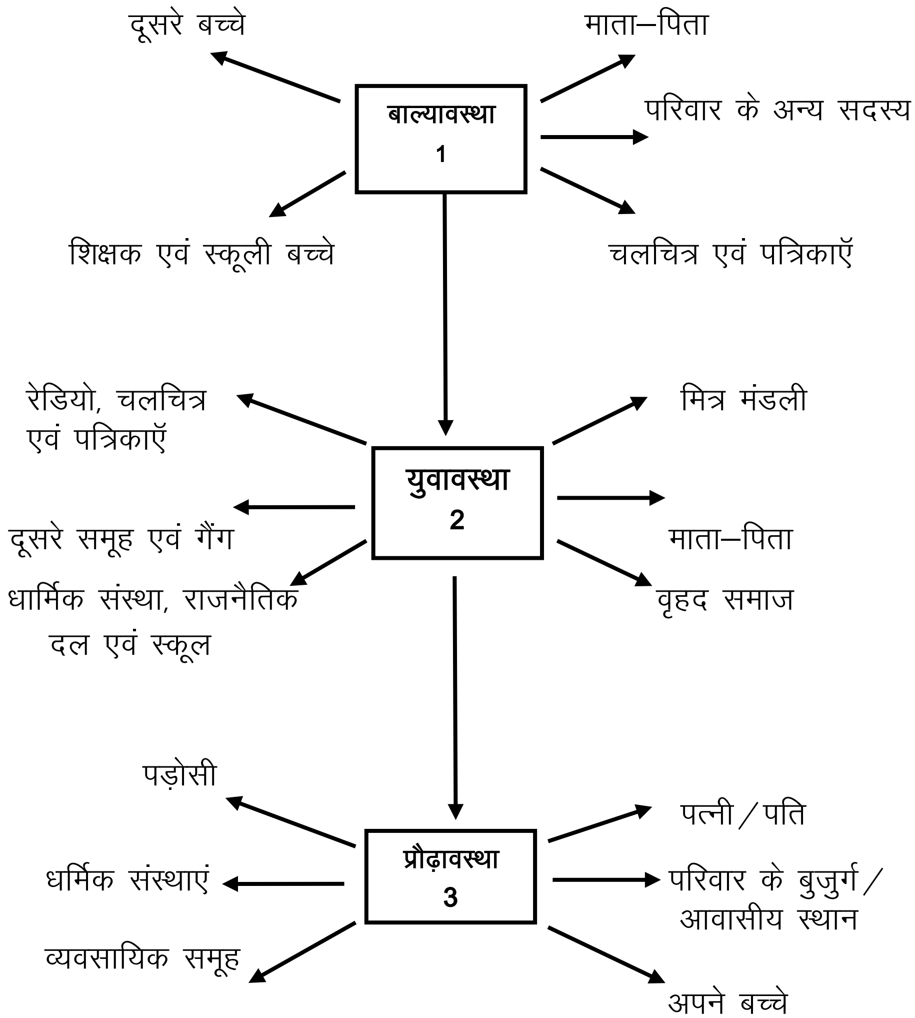

जैसा कि उपर के चित्र से स्पष्ट है समाजीकरण के पहले चरण में बालक के ऊपर परिवार का मूलभूत प्रभाव पड़ता है। परिवार के प्रमुख सदस्य या माता–पिता का बालक के साथ जिस प्रकार का व्यवहार होता है, उसी प्रकार की आदतों को वह विकसित करता है। परिवार के अन्य बड़े लोगों का भी अनुकरण करके बालक बहुत कुछ सीखता है। बालक वही बन पाता है जैसा उसका परिवार है तथा उसके परिवार की जैसी संस्कृति है। छोटी–छोटी पुस्तकों कहॉनियों, चलचित्रों आदि से भी बालक बहुत कुछ सीखता है। बड़ा होकर अन्य बच्चों के साथ खेलता है। खेल–खेल के माध्यम से भी बालक दूसरों के व्यवहारो को अपनाता है। अन्य साथियों के ऊपर अपना प्रभाव जमाना या उनसे प्रभावित होना बालक को विभिन्न परिस्थितियों से सामंजस्य करना सीखता है।

युवावस्था में वह द्वैतीयक समूहों के सम्पर्क में अधिक रहता है तथा उनसे प्रभावित होता है। धार्मिक, आर्थिक, तथा राजनैतिक संस्थाओं से प्रभावित व्यक्ति अपने व्यवहार को उसके अनुरूप बनाता है।

प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति पुनः प्राथमिक सामाजिक समूह से अधिक प्रभावित होने लगता है। वह अपने पत्नी तथा बच्चों से भी बहुत कुछ सीखता है। द्वैतीयक सामाजिक समूह जिनके सम्पर्क में वह रह चुका है वे भी प्रभावित करती रहती हैं।

एच0 एम0 जानसन ने अपनी पुस्तक 'सोसियोलोजी' में समाजीकरण की प्रक्रिया में चार स्तरों का उल्लेख किया है जो अग्रलिखित हैं –

(1) प्रथम सोपान – मौखिकावस्था –

इस स्तर पर बालक अन्य लोगों से मौखिक निर्भरता स्थापित करता है। जन्म के समय उसे विभिन्न संकटपूर्ण परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अपने पर्यावरण से अनुकूलन अस्तित्व के लिए आवश्यक होता है। सांस लेना, भोजन करना, गर्मी और ठंड से बचना आदि उसकी कुछ वर्तमान आवश्यकताएँ होतीं हैं जिसके लिए वह रोता, चिल्लाता है। वह उन संकेतों को देना सीखता है जिससे उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो। वह अपनी माता से अन्तःक्रिया अपनी आवश्यकताओं के लिए करता है। फ्रायड ने इस स्तर को प्राथमिक परिचय का स्तर कहा है।

(2) द्वितीय सोपान – शैशवावस्था –

यह स्तर एक वर्ष से पॉच वर्ष के बीच की अवधि का माना जाता है। इस स्तर पर बच्चे अपनी नयी मांगों को रखते हैं। अपनी सफाई करना, स्वयं शौच करना आदि बच्चों को सिखाया जाता है। इस स्तर पर बच्चे से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने को संभालना सीखे। इस सोपान में बालक दो भूमिकाओं को अन्तरीकृत करता है – अपनी और अपने माता की भूमिका जिसे वह अपने से करने लग जाता है। बालक को जो प्यार मिलता है उसकी प्रतिक्रिया स्परूप वह दूसरों को प्यार करने लगता है। बालक को गलत और सही में अन्तर करना सिखाया जाता है। सही कार्यों के लिए जहॉ उसे पुरस्कार दिया जाता है वहीं गलत कार्यों के लिए दण्ड दिया जाता है। परिवार के सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया करके वह पारिवारिक व्यवहार प्रतिमान को अपनाता है।

(3) तृतीय सोपान – गुप्तावस्था –

यह स्तर 4 वर्ष से प्रारम्भ होकर 13–14 वर्ष तक रहता है। इस स्तर पर बालक पूरे परिवार का सदस्य हो जाता है। उससे यह आशा की जाती है कि वह चारों भूमिकाओं पति–पिता, पत्नी–माता, पुत्र–भाई और पुत्री–बहन को सम्पादित करें। यदि लड़का है तो पति – पिता, पुत्र – भाई की भूमिका और यदि लड़की है तो

पत्नी–माता, तथा पुत्री–बहन की भूमिका। बालक इस स्तर पर अपनी मॉ से एक उद्दीपक लगाव रखता है। वह न केवल उससे प्रेम करता है अपितु मॉ के सम्पर्क में आने से उसे सुख की अनुभूति होती है। इसी स्तर पर बच्चों में "तादात्म्य" की भावना विकसित होती है जिसके अन्तर्गत लड़का अपने पिता से ईष्या और मॉ से प्रेम तथा लड़की अपनी मॉ से ईष्या और पिता से प्रेम करती है। इसी को फ्रायड ने 'इडिपस काम्पलेक्स' (मातृ मनोग्रन्थि) वह भावना जिसे पुत्र अपने माता के प्रति रखता है तथा 'इलेक्ट्रा काम्पलेक्स' (पित्तृ मनोग्रन्थि) वह भावना जिसे पुत्री अपने पिता के प्रति रखती है, के द्वारा व्यक्त किया है। बालक स्कूल जाता है और वहॉ अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए वह नयी मॉगों के अनुसार उसकी पूर्ति का स्वयं प्रवन्ध करता है। तादात्म्य व्यवहार के अन्तर्गत बालक को परिवार, मित्र मंडली तथा समाज के अनुरूप अपने व्यवहार को करना पड़ता है। सामाजिक भूमिका को सीखने में पिता पुत्र के लिए एक आदर्श (माडल) का काम करता है।

(4) चतुर्थ सोपान – किशोरावस्था –

यह स्तर यौवनारम्भ के समय ही प्रारम्भ होता है। इसी स्तर पर बालक अपने माता पिता तथा अन्य बड़ों के नियंत्रण से मुक्त रहना चाहता है। वह स्वतन्त्र रूप से व्यवहार का इच्छुक होता है। इस स्तर पर किशोर से यह आशा की जाती है कि वह अपने बारें में स्वयं निर्णय ले। अपेक्षा की जाती है कि वह निर्णय सामाजिक व्यवहार प्रतिमान के अनुरूप होगी।

व्यक्ति और समाज की अन्तःक्रिया से जो व्यवहार निर्मित होता है उसे अग्रलिखित चार्ट से व्यक्त किया जा सकता है।

निर्मायक तत्व				**परिणाम**
व्यक्ति	→	समाज	→	समाजीकरण
1. व्यक्ति की सीखने की क्षमता	→	समाज का आदर्श	→	ज्ञान का सृजन
2. व्यक्ति की संवेदनात्मक क्षमता की	→	सामाजिक अवसरों प्राप्ति	→	योग्यता का विकास तथा प्रदर्शन
3. व्यक्ति की प्रतिकात्मक क्षमता	→	समाज की स्वीकृत व्यवस्था, पुरस्कार तथा दण्ड	→	प्रेरणा

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जब व्यक्ति समाज के अनुरूप व्यवहार प्रारम्भ कर देता है तो उसे हम समाजीकरण से व्यक्त करते हैं। व्यक्ति जब अपनी सीखने की क्षमता को समाज के आदर्शों के अनुरूप मोड़ देता है तो ज्ञान का सृजन होता है। व्यक्ति जब अपनी संवेदनात्मक क्षमता के अनुरूप अवसर प्राप्त करता है तो वह अपनी योग्यता का प्रदर्शन करता है। व्यक्ति अपने प्रतीकात्मक क्षमता के द्वारा स्वीकृत सामाजिक व्यवहारों को स्वयं करके दूसरों को प्रेरणा प्रदान करता है ताकि अन्य भी समाजोचित व्यवहार करें।

9.5 समाजीकरण के सिद्धान्त

9.5.1 मीड का सिद्धान्त (I और Me)

अमरीकी समाज मनोवैज्ञानिक हर्वर्ड मीड व्यक्ति के समाजीकरण में समाज को सर्वोपरि मानते हैं। मीड के अनुसार जन्म के समय शिशु एक जैविकीय व्यक्ति (Biological Individual) होता है। उसमें तथा अन्य बहुकोषीय जीवधारियों में कोई अन्तर नहीं होता। समाज के अन्य सामाजिक प्राणियों के साथ रहते–रहते व्यक्ति की जैविकीय प्रवृत्तियॉ समाज के अनुकूल हो जातीं हैं। व्यक्ति समाज के नियमों के अनुसार व्यवहार करने लगता है इसे ही समाजीकरण कहते हैं।

मीड के अनुसार 'आत्म' के ढ़ॉचे का आधार 'स्व' की भावना न होकर 'स्व' की चेतना है। यह 'स्व– की चेतना सामाजिक अन्तःक्रियाओं द्वारा उठती हैं। बिना 'स्व' के विकास के व्यक्ति का समाजीकरण सम्भव नहीं।

मीड ने दो अवधारणाओं का प्रयोग समाजीकरण की व्याख्या में किया है –

(1) संकेत या चेष्ठाएँ –

जन्म के समय एक शिशु को भाषा और बोली का ज्ञान नहीं होता। वह अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए स्वयं विभिन्न प्रकार के संकेत देता है। जैसे भूख लगने पर बच्चों का रोना। जैसे–जैसे शिशु बड़ा होता जाता है वह दूसरों की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं को देखता रहता है और उन्हें स्वयं में अर्न्तनिहित कर लेता है। वह भाषा के माध्यम से दूसरों के द्वारा कही गयी बातों का अर्थ समझ लेता है। वह स्वयं भी भाषा के माध्यम से दूसरों को प्रभावित करना शुरू कर देता है।

(2) 'आत्म' अथवा 'स्व' का विकास –

मीड ने लिखा है कि "आत्म की उत्पत्ति आचरण द्वारा होती है। व्यक्ति स्वयं के अनुभव में एक सामाजिक वस्तु बन जाता है। यह उस समय होता है, जब कि व्यक्ति उन मनोवृत्तियों तथा संकेतों को ग्रहण कर सकता है जो दूसरे व्यक्ति उन्हीं स्थितियों में रहकर ग्रहण करते हैं। बालक धीरे – धीरे अपने स्वयं के अनुभव के आधार पर एक सामाजिक प्राणी बन जाता है और स्वयं के लिए भी उसी ढ़ंग से व्यवहार करता है जिस ढ़ंग से वह दूसरों के साथ करता है।" इस प्रकार व्यक्ति अपने व्यवहारों में संशोधन करके जब दूसरों के अनुसार, जिसे मीड ने 'सामान्यीकृत अन्य' (Generalised Others) कहा है व्यवहार करने लगता है तो उसे समाजीकरण कहते हैं।

मीड ने 'I' के लिए कर्ता, (Actor) शब्द का प्रयोग किया है और 'Me' का अर्थ (Generalised Others) दूसरों से है। यह 'Me' समाज के अन्य लोगों के सामान्य व्यवहार को भी प्रदर्शित करता है। 'I' का व्यवहार प्रारम्भ में 'Me' के व्यवहारों से मेल नहीं खाता। वह अपने को अन्य लोगों से दूर रखने का प्रयत्न करता है फिर भी I और Me में मूलभूत अन्तर नहीं होता। यही कारण है कि आगे चलकर 'I' 'Me' के अनुरूप व्यवहार करने को प्रेरित होता है। किंवल यंग ने लिखा है कि यद्यपि 'I' का व्यवहार ऐसा लगता है, कि वह बदला नहीं जा सकता। फिर भी इसे विभिन्न दूसरों (Me's) के व्यवहारों के द्वारा परिवर्तित किया जाता है।[01] इसे ही समाजीकरण कहते है। 'I' एक व्यक्ति है उसका अपना व्यवहार ढ़ंग का होता है। 'Me' सामाजिक व्यवहार प्रतिमान है जब व्यक्ति का व्यवहार ('I') 'Me' (समाज) के अनुरूप हो जाता है तो उसे हम समाजीकरण कहते हैं अर्थात 'I' जब 'Me' के अनुरूप हो जाता है तो उसे समाजीकृत कहते हैं।

9.5.2 कूले का आत्मदर्पण सिद्धान्त

कूले का विचार है कि व्यक्ति और समाज का संबंध अभिन्न है। एक के अभाव में दूसरे को नहीं समझा जा सकता। मनुष्य के आत्म और सामाजिक चेतना का विकास साथ–साथ होता है।

कूले के चिन्तन के तीन चरण है –

(1) हम दूसरे को कैसे दिखलाई पड़ते हैं? अर्थात दूसरों की निगाह में हम क्या है?

The imagination of our appearance to the other person.

(2) जो हम दूसरों को दिखलाई पड़े वह उसे कैसा लगा। उस व्यक्ति का मेरे बारे में क्या निर्णय रहा?

The imagination of his judgement of that appearance.

(3) अब व्यक्ति स्वयं उपरोक्त दोनो स्थितियों के आधार पर अपने बारे में कौन सी धारणा बनाता है – स्वाभिमान का अथवा आत्मग्लानि का।

Some sort of self feeling – such as pride or mortification.

यही धारणा उसका वास्तविक 'स्व' Self है। कूले का विचार है कि जिस प्रकार एक दर्पण के सामने जाकर व्यक्ति अपने आप को आश्वस्त करता है कि मुझे क्या करना है? अपने शरीर या कपड़े को ठीक–ठाक करना है या नहीं ठीक उसी प्रकार समाज भी एक दर्पण है। व्यक्ति अपने को इसी दर्पण में देखता है जब वह अपने को पूर्णरूपेण उसके अनुरूप बना लेता है तो कहते हैं कि व्यक्ति में सामाजिकता विकसित हो गयी। व्यक्ति का समाजीकरण हो गया। यद्यपि आत्म और सामाजिक चेतना अभिन्न है फिर भी उनकी अलग–अलग धारणाएँ हैं। एक व्यक्ति संचार के साधनों द्वारा सामाजिक आदर्शों को ग्रहण करता है। कूले अपने समाजीकरण के सिद्धान्त में इस बात पर बल देते हैं कि मानव प्रकृति यदि विकसित हो सकती है तो केवल व्यक्तियों के समूह में रहकर तथा उनसे पारस्परिक अन्तःक्रिया के द्वारा।

9.5.3 फ्रायड का सिद्धान्त

फ्रायड का मत है कि मानव अपनी कामना सम्बन्धी मूलभूत संवेगों के वशीभूत होकर समस्त सामाजिक अन्तःक्रियाओं को करता है।

फ्रायड ने अपने सिद्धान्त में तीन विशेष शब्दों का प्रयाग किया है। प्रथम इड (Id) जिसका सम्बन्ध मूलभूत प्रवृतियों (Instincts) से है। दूसरा अहं (Ego) जिसका सम्बन्ध तर्क से है और तीसरा परा अह (Super Ego) आदर्श व्यवहार या मान्य सांस्कृतिक तत्व।

इड (Id) पशुवत काम प्रवृतियों से प्रेरित व्यक्ति का समस्त व्यवहार होता है। सर्वस्व हमारा हो जाय इसकी चाह व्यक्ति में होती हैं फ्रायड ने इसे उबलते हुए उद्वेगों की कड़ाही तथा अस्त व्यस्तता से सम्बोधित किया है। इड न तो अच्छाई बुराई का ध्यान रखता है और न ही नैतिकता का।

अहं (Ego) का आधार तार्किक है। यह अपने बौद्धिक तथा विचारशील क्रियाओं से मानव की पशुवत प्रवृतियों और सामाजिक आदर्शों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। अपने तार्किक ज्ञान के आधार पर वह इड को ऐसे कार्यों को करने से रोकता है जिससे हानि की सम्भावना रहती है। अहं वास्तविक सिद्धान्त का पोषक है यही कारण है कि इसे बुद्धि या चिंतन कहकर सम्बोधित किया जाता है।

परा अहं (Super Ego) यह समाज का आदर्श व्यवहार होता है। "इड" को यह अपने अनुरूप बनाने का प्रयास करता है ताकि काम प्रवृतियों पर सामाजिक मर्यादाओं के अनुरूप नियंत्रण हो सके।

"इड" एक किनारा है तो परा अहं दूसरा किनारा। दोनों में सामंजस्य की जिम्मेदारी "इगो" अह की है। यदि "इड" को घोड़ा माना जाय तो "इगो" सईस (घोड़े के सेवक) के समान है और सुपर इगो घोड़े के मालिक के समान है। यह सईस की जिम्मेदारी है कि वह घोड़े को ठीक–ठाक रखे तथा घोड़े को ऐसे प्रशिक्षित करे कि मालिक आवश्यकता अनुसार सवारी कर सके। समाजीकरण के द्वारा मानव को उसके पाशुविक प्रवृतियों से हटाकर समाज के आदर्शों के अनुरूप बनाया जाता है।

9.5.4 दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त

सामूहिक प्रतिनिधित्व से तात्पर्य विचारों की व्यवस्था, व्यवहार प्रतिमान, मनोवृतियों और मूल्यों से है। सामूहिक प्रतिनिधित्व में अधिकतर आदर्श व्यवहार होते हैं वास्तव में सामूहिक प्रतिनिधित्व श्रेष्ठ विचारों का एक गट्ठर है। नवजात जब इस सामूहिक प्रतिनिधित्व के श्रेष्ठ विचारों के अनुरूप व्यवहार करने लगता है तो हम कहते है कि उसका समाजीकरण हो गया।

सामूहिक प्रतिनिधित्व का नैतिक दबाव व्यक्तिओं के ऊपर पड़ता है। यही कारण है कि इसके प्रभाव में स्थायित्व होता है। चूंकि सामूहिक प्रतिनिधित्व सामाजिक आदर्शों तथा सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होते हैं यही कारण है कि व्यक्ति बाध्य होकर इनके अनुसार अपने व्यवहारों को बनाता है। दुर्खीम के अनुसार जब व्यक्ति सामूहिक प्रतिनिधानों के अनुरूप व्यवहार करने लगता है तो हम कहते हैं कि उसका समाजीकरण हो गया।

9.6 सारांश

जैविक व्यक्ति का समाजीकरण प्राणी में रूपान्तरण समाजीकरण है। मनुष्य सभी जीवधारियों में श्रेष्ठ केवल समाजीकरण के कारण होता है। वह समाजीकरण में अनुकरण और सीख की प्रक्रियाओं से संस्कृति के तत्वों को अपनाता है। गेसेल तथा डेविस ने कहा कि समाज का संसर्ग मानव व्यक्तित्व के विकास में सर्वोपरि है। यदि समाजीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति नहीं गुजरता तो वह भी एक पशु की तरह बना रहेगा और शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। कुछ उदाहरण जिसमें एक विक्टर नाम का लड़का जो फ्रांस की तीसरी कान्ति में खो गया बाद में अवेरान जंगल में शिकारियों द्वारा मिला। उसमें समाजीकरण न होने के कारण वह एक पशु के समान था। कमला और अमला नामक दो लड़कियॉ पादरी जे0 सिंह को भेड़ियों की मॉद से मिली जिनकी उम्र 08 वर्ष और डेढ़ वर्ष थी उनका हाव भाव और व्यवहार जानवरों की तरह ही था। समयानुसार समाजीकरण न होने के कारण 17 वर्ष की अवस्था तक भी कमला केवल 45 शब्दों को ही सीख सकी थी। एक अन्य बालिका अन्ना (5 वर्ष) का भी समाजीकरण न होने के कारण वह सामान्य नहीं थी। ईजावेल (5–6वर्ष) कास्पर हासर, रामू और परशुराम आदि अनेक उदाहरण है जो सिद्ध करते हैं कि समाजिक पर्यावरण के अभाव में समाजिकता के गुणों का विकास सम्भव नहीं है। यह विकास केवल अन्तःक्रिया के द्वारा ही हो सकता है। समाजीकरण के कारण मानव की सामाजिक क्षमता में वृद्धि, अनुशासन में वृद्धि, अपेक्षित आकांक्षाओं की पूर्ति व सामाजिक कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। मानव

तथा पशु में शारीरिक क्रियाएं लगभग समान रूप में होतीं हैं परन्तु व्यवहारों में बहुत अन्तर होता है जिसका कारण समाजीकरण होता है। इससे वह प्रचलित प्रथाओं, व्यवहार के तरीकों तथा बोल चाल के ढ़ंग को अपनाकर समाज में सक्रिय सदस्य बन जाता है। जानसन के अनुसार समाजीकरण का तात्पर्य सीखने से ही है ताकि व्यक्ति सामाजिक कार्यों को कर सके। गिलिन एवं गिलिन ने समाजीकरण की प्रक्रिया को 1— बाल्यावस्था, 2— युवावस्था 3— प्रौढ़ावस्था तीन स्तरों में विभाजित किया है यह समाजीकरण प्राथमिक समूह व द्वैतियक समूहों के सम्पर्क में आने से होता है।

एच0 एम0 जानसन ने समाजीकरण की प्रक्रिया के चार स्तरों का उल्लेख किया है। 1— प्रथम सोपान मौखिकावस्था 2— द्वितीय सोपान शैशवावस्था (1 से 5 वर्ष तक) 3— तृतीय सोपान गुप्तावस्था (4 से 14 वर्ष तक) 4— चतुर्थ सोपान किशोरावस्था। इन सभी अवस्थाओं में एक बालक समाज से अन्तः क्रिया करके अपने व्यवहार में परिवर्तन लाकर समाजीकृत होता है। समाजीकरण के सिद्धान्तों में मुख्य रूप से मीड "आई और मी" के आधार पर समाजीकरण की व्याख्या करते है। उन्होंने स्व की चेतना के फलस्वरूप ही समाजीकरण होना बताया है। जब व्यक्ति का व्यवहार (I) समाज (Me) के रूप में हो जाता है तो उसे हम समाजीकरण कहते हैं। "कूले का आत्म दर्पण का सिद्धान्त" समाज रूपी दर्पण में स्वयं को देखकर समाजीकृत होने में है। इसमें तीन चरण हैं —

1. हम दूसरे को कैसे दिखलाई पड़ते हैं? अर्थात दूसरों की निगाह में हम क्या है?
2. जो हम दूसरों को दिखलाई पड़े वह उसे कैसा लगा। उस व्यक्ति का मेरे बारे में क्या निर्णय रहा?
3. अब व्यक्ति स्वयं उपरोक्त दोनो स्थितियों के आधार पर अपने बारे में कौन सी धारणा बनाता है — स्वाभिमान का अथवा आत्मग्लानि का।

ये समाज ही व्यक्ति के स्वभावों व चरित्रों का निर्धारण करता है। फ्रायड का सिद्धान्त समाजीकरण को मानव के मूलभूत सम्बन्धों से उत्पन्न Id (इड) Ego (अहं) Super Ego (परा अहं) के आधार पर स्पष्ट करता है जिसमें Id (इड) का सम्बन्ध मूलभूत प्रवृतियों, Ego (अहं) का सम्बन्ध तर्क और Super Ego (परा अहं) का सम्बन्ध आदर्श व्यवहार या मान्य सांस्कृतिक तत्वों से है।

Id (इड) एक किनारा है तो Super Ego (परा अहं) दूसरा किनारा और दोनों में सामंजस्य की जिम्मेदारी Ego (अहं) की है।

दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त विचारों की व्यवस्था, व्यवहार प्रतिमान, मनोवृतियों और मूल्यों के आदर्श व्यवहार से सम्बन्धित हैं जिसमें वह कहता है कि जब व्यक्ति सामूहिक प्रतिनिधानों के अनुरूप व्यवहार करने लगता है तो समाजीकरण हो जाता है।

इन सभी सिद्धान्तों के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाजीकरण का मूलभूत स्रोत समाज है।

9.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- ➤ एच0 एम0 जानसन – "सोसियोलाजी"
- ➤ के0 के0 मिश्र "सामाजिक नियंत्रण एवं परिवर्तन, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या"
- ➤ किवलयंग "ए हैण्डबुक आफ सोशल साइकोलोजी"
- ➤ मैकाईबर और पेज "सोसायिटी"

9.8 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजीकरण से आप क्या समझते है? क्या यह सामाजिक जीवन की एक आवश्यक दशा है?

प्रश्न 2 समाजीकरण क्या है? समाजीकरण के विभिन्न स्तरों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 3 समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजीकरण में आत्मदर्पण के सिद्धान्त के महत्व को स्पष्ट करें।

प्रश्न 2 समाजीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए महत्व पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 समाजीकरण की प्रक्रिया चलती है।

(क) बाल्यावस्था तक (ख) युवावस्था तक

(ग) प्रौढ़ावस्था तक (घ) आजीवन

प्रश्न 2 समाजीकरण में योगदान होता है।

(क) प्राथमिक समूह का (ख) द्वैतीयक समूह का

(ग) धार्मिक संस्था (घ) सभी का

प्रश्न 3 एच0 एम0 जानसन ने समाजीकरण को कितने स्तरों में स्पष्ट किया है।

(क) 3 (ख) 2

(ग) 4 (घ) 5

प्रश्न 4 I और Me का सिद्धान्त किसने दिया?

(क) फ्रायड (ख) मीड

(ग) दुर्खीम (घ) कूले

प्रश्न 5 कूले ने समाजीकरण का कौन सा सिद्धान्त दिया?

(क) इग, इगों, सुपर इगों (ख) आत्मदर्पण का सिद्धान्त

(ग) चेतना का सिद्धान्त (घ) I और Me का सिद्धान्त

उत्तर– 1– (घ) 2– (घ)

3– (ग) 4– (ख)

5– (ख)

इकाई—10

समाजीकरण के अभिकरण – प्राथमिक एवं द्वैतीयक

इकाई की रूपरेखा—

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 समाजीकरण के अभिकरण

10.3.1 प्राथमिक साधन

10.3.2 द्वैतीयक साधन

10.4 समाजीकरण के कारक

10.5 सारांश

10.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.7 परीक्षापयोगी प्रश्न

10.1 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे—

- समाजीकरण के प्राथमिक एवं द्वैतीयक साधन।
- समाजीकरण के कारक।

10.2 प्रस्तावना

समाजीकरण की प्रक्रिया समाज में रहकर ही होती है। समाजीकरण में विभिन्न साधनों का महत्वपूर्ण योगदान होता है जिसके अन्तर्गत प्राथमिक साधन (परिवार, आयु समूह, पड़ोस, नातेदारी समूह, शैक्षणिक समूह) व द्वैतीयक साधन (वर्ग, जाति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र, राजनैतिक दल, धार्मिक व भाषा समूह) समाजीकरण में अपनी सहभागिता निभातें हैं।

10.3 समाजीकरण के अभिकरण – प्राथमिक एवं द्वैतीयक

समाजीकरण की प्रक्रिया को विभिन्न साधनों द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। इन अभिकरणों /साधनों में से कुछ तो इतने महत्वपूर्ण हैं कि उनके अभाव में व्यक्ति का मानवोचित विकास सम्भव नहीं। किंवलयंग ने अपनी पुस्तक "ए हैण्डबुक आफ सोशल साइकोलोजी" में लिखा है कि "समाज के अन्तर्गत, समाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है। परिवार के अन्तर्गत माता, पिता ही

सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होते है। समाजीकरण के अन्य साधनों में पड़ोस, सगे सम्बन्धी, प्राथमिक समूहों के सदस्य तथा बाद में द्वैतीयक समूहों की सदस्यता आती है।"

समाजीकरण के अभिकरणों को दो भागों में बॉटा जाता है–

(1) प्राथमिक साधन

इसके अन्तर्गत अग्रलिखित इकाईयों को सम्मिलित किया जाता है।

- परिवार
- आयु समूह
- पड़ोसी
- नातेदारी समूह
- शैक्षणिक समूह
- अन्य प्राथमिक समूह – मित्र मंडली, क्लब, मनोरंजन गोष्ठी आदि।

(2) द्वैतीयक साधन

- वर्ग
- जाति
- राष्ट्रीयता
- राष्ट्र
- राजनैतिक दल
- धार्मिक समूह
- भाषा समूह
- व्यवसायिक समूह
- अन्य समूह

10.3.1 प्राथमिक साधन (समाजीकरण में प्राथमिक साधनों की भूमिका)

(1) परिवार – समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध हो चुका है कि जो बच्चे जन्म के समय ही अपने परिवार से अलग कर दिये गये, अनेक प्रयत्नों के बाद भी उनमें मानवोचित गुणों का विकास नहीं हो सका। जन्म के बाद के प्रथम तीन वर्ष मानवोचित गुणों के विकास के लिए अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और इस अवधि में बालक का सम्पर्क उसके

परिवार के सदस्यों से होता है। जानसन ने लिखा है कि पारिवारिक संगठन इस प्रकार का होता है जिससे समाजीकरण सम्भव हो पाता है। समाजीकरण के प्रथम चरण की महत्ता बतलाते हुए किंवलयंग ने लिखा है कि इस सम्बन्ध में साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि प्रारम्भिक समाजीकरण ही मौलिक एवं महत्वपूर्ण होता है अपेक्षाकृत उन सभी चीजों से जो बाद में सीखी जातीं हैं। बचपन के व्यवहार व्यक्ति की आदतों में सम्मिलित हो जाता है।

परिवार के कुछ महत्वपूर्ण सम्बन्ध अग्रलिखित हैं –

- पति, पत्नी
- पिता, पुत्र
- पिता, पुत्री
- माता, पुत्र
- माता, पुत्री
- बहिन, बहिन
- भाई, भाई
- भाई, बहन

समाजीकरण की दृष्टि से इन सम्बन्धों को अग्रलिखित क्रम में रखा जा सकता है।

- माता बच्चे
- पिता, बच्चे
- बच्चे, बच्चे
- पति, पत्नी

समाजीकरण की प्रक्रिया में माता का प्रभाव बच्चे के ऊपर सर्वाधिक पड़ता है। जीवन के प्रथम दो वर्ष में एक बालक अपने अस्तित्व को अपनी मॉ के अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ मानता है। मॉ का प्यार और देखभाल बच्चे के उद्‌भव की नीव है। किंवलयंग ने लिखा है कि 'परिवार के अन्तर्गत मौलिक अन्तःक्रिया सॉचा मॉ और बच्चे का होता है।' बच्चा जब रोता है तो मॉ उसे उठाकर दूध पिलाती है, उसे प्यार करती है। इस व्यवहार का प्रभाव बालक पर भी पड़ता है, वह भी सहानुभूति प्रकट करना सीखता है। इसके विपरीत यदि मॉ का व्यवहार क्रूर है, वह बच्चे की चिन्ता नहीं करती तो बालक के ऊपर इसका भी प्रभाव पड़ता है। बड़ा होने पर बालक भी क्रूर स्वभाव का हो जाता है।[01]

पिता तथा बच्चे का सम्बन्ध भी कम महत्वपूर्ण नहीं होता। पिता साधारणतया परिवार का मुखिया होता है। लड़के प्रत्येक कार्य में अपने पिता की भूमिका को अपनाते हैं कि उन्हे मालूम होता है क्योंकि बड़ा होने पर उन्हे उन्हीं की भूमिकाओं का सम्पादन करना होगा जो आज उसके पिता कर रहे हैं। अनुशासन में रहना तथा पारिवारिक परम्पराओं के अनुरूप व्यवहार करना आदि की शिक्षा बालक अपने पिता से ही ग्रहण करता है।[01]

बच्चों का आपसी प्रभाव भी एक दूसरे पर पड़ता है। यदि परिवार में बड़ा भाई या बहन खराब काम करने लगतें हैं तो उसका प्रभाव उसके छोटे भाई या

बहनों पर भी पड़ता है। इसी प्रकार यदि बड़े भाई बहन अच्छे हैं तो उसका प्रभाव छोटे पर भी पड़ता है। बच्चे आपसी व्यवहार में बहुत कुछ सीखतें हैं।

पति पत्नी (मॉ बाप) का सम्बन्ध भी बच्चों के समाजीकरण के लिए महत्वपूर्ण होता है। बच्चे भी अपने मॉ बाप के व्यवहारों के आधार पर अपने भविष्य के लिए योजनाऍ बनाते हैं। जिन परिवारों में मॉ बाप में सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं उन परिवारों में उनके बच्चे भी बड़े होकर वैसा व्यवहार अपने वैवाहिक जीवन में करने लगतें हैं।

बच्चों का पालन पोषण ठीक प्रकार से होना चाहिए। अधिक लाड़–प्यार के कारण भी बच्चों का समाजीकरण ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। ऐसे बच्चे बहुतायत में सामाजिक व्यवहार प्रतिमान के विरूद्ध व्यवहार करते हैं। इसके विपरीत जिन बच्चों पर अधिक नियंत्रण रहता है, प्रत्येक व्यवहार पर डांटे जातें हैं, उनका समाजीकरण भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। बच्चे में इससे हीनता की भावना विकसित हो जाती है। परिवार की आर्थिक स्थिति का भी प्रभाव बच्चे के समाजीकरण पर पड़ता है। गरीब परिवार के बच्चों में अनिश्चितता, असुरक्षा तथा हीनता की मनोवृत्तियॉ पनप जातीं हैं जबकि समृद्ध परिवारों के बच्चों में यह स्थिति देखने को नहीं मिलती। यदि माता–पिता अपने ही बच्चों में भेदभाव करतें हैं तो इसका प्रभाव भी उनके समाजीकरण पर पड़ता है। माता–पिता के नैतिक विचारों का प्रभाव समाजीकरण की प्रक्रिया में इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी के आधार पर बच्चों का आचरण निर्मित होगा। परिवार के सदस्यों के धर्मिक तथा राजनैतिक विचारों का प्रभाव भी बच्चों के ऊपर पड़ता है। इन्हीं सब कारणों से कहा जाता है कि "व्यक्ति जो कुछ है वह अपने परिवार के कारण ही है।" एक व्यक्ति साधारणतया वही बन पाता है जो उसके परिवार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। "समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार ही सर्वाधिक महत्व वाला साधन है।"

सीखना दो प्रकार का होता है (1) सांस्कृतिक प्रत्यावर्तन और (2) व्यक्तिगत सामाजिक सीखना। किंवलयंग ने उपरोक्त का समर्थन करते हुए लिखा है कि परिवार के सदस्य और विशेष रूप से मॉ–बाप एक दिए हुए समाज के मौलिक सांस्कृतिक नियमों का परिचय बच्चों को दिलातें हैं। इस विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि परिवार ही एक ऐसा समाजीकरण का साधन है जिसका प्रभाव व्यक्ति के ऊपर आजीवन कायम रहता है।

(2) आयु समूह – बच्चों के समाजीकरण में उनके आयु समूह के अन्य बच्चों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन बच्चों को उनके आयु समूह के अन्य बच्चों का साथ नहीं मिलता उनका स्वतन्त्र विकास रूक जाता है। ऐसे बच्चे अपने में ही लीन हो जाते हैं और समाज के आवश्यक व्यवहार प्रतिमानों को ग्रहण नहीं कर पाते। बालक विभिन्न सामाजिक स्थितियों की भूमिका को अपने आयु समूह में रहकर ही अपनाता है।

(3) पड़ोसी – पड़ोस का महत्व विभिन्न व्यवहारों को सीखने के लिए है। जिस प्रकार का पड़ोस होगा, साधारणतया बच्चों में उसी प्रकार के व्यक्तित्व निर्माण का विकास होगा। बच्चे अपने पड़ोसी के व्यवहार का अनुकरण करते हैं। पड़ोस का

बड़ा रूप ही समुदाय होता है, अतः अच्छे पड़ोस का होना समाजीकरण के लिए आवश्यक है।

(4) नातेदारी समूह – बच्चों के सगे सम्बन्धी जिस प्रकार के होंगे उसका प्रभाव भी बच्चों के समाजीकरण पर पड़ता है। विभिन्न उत्सवों, पर्वों तथा अन्य सामाजिक अवसरों पर बच्चे अपने रिस्तेदार से मिलतें हैं और विचारों का आदान प्रदान भी होता है। कुछ बच्चे इन विचारों से प्रभावित होकर उसी के अनुरूप व्यवहार करने लगते हैं। इस प्रकार समाजीकरण के लिए नातेदारी समूह की महत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

(5) शैक्षणिक संस्था – शैक्षणिक संस्थाओं का प्रभाव बालक के ऊपर अधिक मात्रा में पड़ता हैं। बच्चे अपने परिवार से बाहर इन्हीं विद्यालयों में जाते हैं जहॉ नये–नये सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया करते हैं। बालक अधिकांश व्यवहारों को इन्हीं विद्यालयों में सीखता है अन्य विद्यार्थियों के अतिरिक्त उनके ऊपर शिक्षकों का भी प्रभाव पड़ता है। वह शिक्षकों के व्यवहारों को भी अपनाता है वर्तमान समय में स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय समाजीकरण के प्रमुख साधन हैं। अब बच्चे तीन वर्ष की आयु में ही नर्सरी स्कूलों में भेज दिये जाते हैं। सामान्यतया जीवन के 20–22 वर्ष शैक्षणिक संस्थाओं के सम्पर्क में एक व्यक्ति बिताता है। एक व्यक्ति के सामाजीकरण में सबसे अधिक प्रभाव शिक्षण संस्थाओं का पड़ता है। इसके अतिरिक्त मित्र मंडली, क्लब तथा मनोरंजन केन्द्र, सिनेमा एवं थियेटरों का प्रभाव भी व्यक्ति के सामाजीकरण पर पड़ता है।

10.3.2 द्वैतीयक साधन (द्वैतीयक समूहों का समाजीकरण पर प्रभाव)

व्यक्ति के समाजीकरण में द्वैतीयक साधनों का भी प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति जैसे–जैसे बड़ा होता है, वह द्वैतीयक समूहों के सम्पर्क में आने लगता है और उसका जीवन उन्हीं द्वैतीयक समूहों के द्वारा निर्देशित होने लगता है। द्वैतीयक साधनों के अन्तर्गत वर्ग, जाति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र, राजनैतिक दल, धार्मिक समूह, भाषा समूह और व्यवसायिक समूह आदि को सम्मिलित किया जाता है। इन सभी साधनों के प्रभाव के कारण ही व्यक्ति नये–नये विचारों को अपनाता है जिसके कारण उसके परम्परागत जीवन ढ़ंग में परिवर्तन आ जाता है। व्यक्ति किस जाति अथवा वर्ग का सदस्य है, यह भावना उसके विकास में सहायक होती है। अंग्रेजों के शासनकाल में भारतवर्ष में के पैदल सेना में केवल सीमित जातियों के सदस्य ही लिए जाते थे। इसी प्रकार जिस पेशे को व्यक्ति करता है वहॉ काम करने वाले विभिन्न व्यक्तिओं का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। अपने–अपने व्यवसाय के अलग–अलग आदर्श तथा संहिताऍ होती है। जिनका पालन प्रत्येक व्यक्ति करता है। व्यवसायिक संहिता का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर पड़ता है। धार्मिक समूहों के सम्पर्क में आकर व्यक्ति अपने में नैतिकता को जागृत करता है। व्यक्ति जिस धर्म को मानता है उसी के अनुसार उसके सामाजिक जीवन के व्यवहार भी होते हैं। जैसे ईसाइयों में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय को मानने वाला अधिक धन कामना अपना कर्तब्य मानता है जबकि हिन्दू धर्म के मानने वाले धन दौलत को बेकार और नश्वर कहकर आध्यात्मिकता के विकास पर बल देता है। ईसाइ धर्म के कैथोलिक सम्प्रदाय के लोग भी इसी विचार धारा के हैं। विभिन्न धर्मों के बीच वाले व्यक्तियों के विचार भिन्न–भिन्न हो जाते हैं।

राजनैतिक समूह भी समाजीकरण में अपना विशिष्ठ स्थान रखतें हैं। साधारणतया आज का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी न किसी राजनैतिक दल का सदस्य होता है इन राजनैतिक दलों के उद्‌देश्य लोगों को

अधिक अंश में प्रभावित करता है। जो व्यक्ति साम्यवादी दल से जुड़े हैं वे अगर समानता के लिए जी तोड़ परिश्रम करते है तो वहीं पर स्वतन्त्र पार्टी जागीरदारी प्रथा को तथा ऊँच–नीच के भेदभाव को उचित मानती है। इस प्रकार लोगों के ऊपर विभिन्न राजनैतिक दलों का प्रभाव पड़ता है जिससे उनका व्यवहार संशोधित होता है। राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र भावना भी बहुत से व्यवहारों को सीखने में सहायक होती है। आधुनिक समाजों में समाजीकरण की प्रक्रिया में अब द्वैतीयक साधनों की महत्ता बढ़ रही है व्यक्ति की बढ़ती हुई आवश्यकताएँ प्राथमिक समूहों में पूरी नहीं हो सकती। यही कारण है कि व्यक्ति द्वैतीयक साधनों तथा द्वैतीयक समूहों के सम्पर्क में आकर उनसे प्रभावित होता है। व्यक्ति में अधिक अंश के वैयक्तिकता तथा वैज्ञानिक आविष्कारों में वृद्धि के कारण द्वैतीयक सामाजिक समूहों की महत्ता बढ़ती जा रही है। परम्परागत आधार पर आवश्यकताओं की पूर्ति को अधूरा, अपर्याप्त तथा असामायिक माना जा रहा है। मानव आवश्यकताओं की पूर्ति विशेषीकृत ढ़ंग से हो इसके लिए द्वैतीयक समूहों की ओर देखा जाता है। इन्हीं कारणों से 21वीं सदी में समाजीकरण के अभिकरण के रूप में द्वैतीयक सामाजिक समूहों की महत्ता बढ़ी है। कुछ प्रमुख द्वैतीयक समूह जो समाजीकरण के लिए आवश्यक माने जा रहे हैं उनका विवरण निम्नलिखित है[01] –

1. **धार्मिक समूह** – धार्मिक समूहों का व्यक्ति के जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। किसी समाज में जो धर्म प्रचलित है और उसकी जो आचार संहिता है उसी के आधार पर उस समाज की सामाजिक व्यवस्था निर्मित होती है। एक समाज समृद्ध होगा अथवा अविकसित यह उस समाज के धर्म के आधार पर निर्भर होगा। लोगों का झुकाव भौतिक व्यवहार की ओर अधिक होगा अथवा नैतिक व्यवहार की ओर यह भी धर्म पर आश्रित होता है। भारत वर्ष की सामाजिक व्यवस्था पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा पर आधारित रही है जो हिन्दू धर्म का केन्द्र बिन्दु है। आज के संकट कालीन युग में नैराश्य से मुक्ति के लिए धार्मिक समूहों का योगदान आवश्यक माना जा रहा है।[02]

2. **आर्थिक समूह** – आर्थिक समूहों की महत्ता निरंतर बढ़ रही है। किसी भी व्यक्ति की सफलता अब इस बात पर निर्भर होने लगी है कि वह आर्थिक समूहों से किस प्रकार अनुकूलन करता है? पूँजीवादी समाजों में तो उच्च सामाजिक प्रस्थिति की प्राप्ति भी धन पर केन्द्रित होती है जिसके लिए व्यक्ति को प्रयास करना पड़ता है। औद्योगिक संस्थानों में कार्यरत लोगों को जीवन में सफलता के लिए उस प्रस्थिति से अनुकूलन आवश्यकता होता है। आज उन समाजों में भी जिसे धर्म प्रधान समाज की संज्ञा दी जाती रही है लोगों का झुकाव भौतिक उद्देश्यों की ओर अधिक होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में आर्थिक समूहों के अनुरूप व्यवहार सफलता का सूचक माना जाता है।[01]

3. **सामाजिक समूह** – प्रत्येक समाज में समाजिक स्तरण के प्रमुख आधार जाति और वर्ग में से किसी एक की महत्ता दिखाई पड़ती है। सफलतापूर्वक जीवन यापन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति जाति अथवा वर्ग जिसका की वह सदस्य है उसके अनुरूप व्यवहार करे। भारत वर्ष में जाति पंचायतों के द्वारा जाति से वहिष्कृत करने की प्रथा रही है। यह दण्ड उन लोगों को दिया जाता था जो कोई बड़ा अपराध करते थे। ऐसा माना जाता था कि जाति से वहिष्कृत करने से

उसका व्यक्तित्व कुण्डित हो जायेगा जो किसी व्यक्ति के लिए दण्ड की चरम सीमा होगी। व्यक्ति जातिगत अथवा वर्गगत व्यवहारों को करके सामाजिक संगठन की सुदृढ़ता तथा उसकी निरंतरता को बनाये रखता है। व्यक्ति को किस प्रकार का व्यवहार करना है इसका निर्देश उसे अपनी जाति अथवा धर्म से प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रजाति व्यवहारों की भी महत्ता रही है। ऐसे व्यक्ति जो जाति वर्ग, अथवा प्रजाति से अनुकूलन नहीं कर पाते उन्हे जीवन में कठोर संघर्षों का सामना करना पड़ता है और जीवन में असफल भी रहना पड़ता है।[02]

4. **राजनैतिक समूह** – राजनैतिक जागरूकता बोध प्रगति का सूचक है। आज सभी समाज प्रजातन्त्र की कामना कर रहे हैं। राजनैतिक दल ही सरकार के स्वरूप को तय करते हैं। सरकारी नीति सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित और संशोधित करती है। राजनैतिक समूहों के साथ के कारण ही कोई व्यक्ति एक नागरिक के दायित्व को समझकर उसे व्यवहार रूप देता है। व्यक्ति के अधिकार और दायित्व क्या है? उसे क्या करना है? क्या नहीं करना है? आदि प्रश्नों के उत्तर वह अपने राजनैतिक समूह से ग्रहण करता है। किसी समाज का राजनैतिक समूह ही उस समाज के भावी स्वरूप को तय करता है। राजनैतिक समूहों का अनुकरण एक सफल नागरिक की भूमिका निभाने के लिए आवश्यक होती है।[03]

5. **सांस्कृतिक समूह** – संस्कृति जीवन की पूर्णता है। भाषा, ज्ञान, विश्वास, साहित्य आदि सभी इसके अर्न्तगत आ जाते हैं। व्यक्ति की सम्पूर्ण गतिविधियॉ संस्कृति के अन्तर्गत आतीं हैं। व्यक्ति के समाजीकरण अथवा व्यक्तित्व के निर्धारण में संस्कृति का हाथ महत्वपूर्ण माना जाता है। सांस्कृतिक समूह व्यक्ति को संस्कृति के तत्वों का ज्ञान करा कर उसके समाजीकरण में योगदान देते हैं।[01]

6. **मनोरंजनात्मक समूह** – आज के औद्योगिक ताने बाने वाले समाजों में प्रचलित अवैयक्तिक सम्बन्धों के घुटन से बचने के लिए मनोरंजनात्मक समूह की ओर देखना व्यक्ति की बाध्यता बन गयी है। नाटक, कीर्तन, भजन, नृत्य, चलचित्र आदि के माध्यम से व्यक्ति उन व्यवहारों को अपनाता है जो उसे आदर्शात्मक दिखाई देता है। इन विभिन्न मनोरंजनात्मक कृत्यों के माध्यम से लोगों के व्यवहार को एक निश्चित सामाजिक मोड़ प्राप्त होता है और वे समाजीकृत होते है।[02]

10.4 समाजीकरण के कारक

(1) सुझाव – बच्चों में आज्ञा पालन की भावना पायी जाती है। सुझाव के द्वारा बच्चों को प्रेरित किया जाता है कि वे अमूक व्यवहारों को करें। माता–पिता तथा परिवार के अन्य बड़े लोग जो सुझाव रखते है बच्चे उसे मानकर उसी के अनुरूप व्यवहार करते हैं। बच्चों में अधिक तर्क वितर्क की भावना विकसित नही होती अतः इस कारण भी वे बड़ों के सुझावों को स्वीकार करतें हैं और तदनुसार व्यवहार करते हैं।

(2) अनुकरण – लोगों के अधिकांश अर्जित गुण अनुकरण पर आधारित होते हैं। अनुकरण के द्वारा व्यक्ति बोल–चाल, खान–पान के ढ़ंग अथवा अन्य दूसरे व्यवहारों को सीखता है। भाषा तथा प्रतीकों का प्रयोग भी अनुकरण द्वारा ही अपनाया जाता है। बच्चों को यह स्मरण कराया जाता है कि बड़ा होकर उन्हे सफल व्यक्ति बनना है। इस भावना से प्रेरित होकर वह उन लोगों के व्यवहारों का अनुकरण करता है जिन्हे वह आदर्श मानता है। मन्द बुद्धि के लोग भी अनुकरण के माध्यम से अनेक व्यवहारों को अपनाकर समाजीकृत होते हैं।

(3) सहानुभूति – सहानुभूति के द्वारा बच्चे अपने में प्रेम और सहयोग को बढ़ावा देते हैं। यदि कोई उन्हे सहानुभूति दिखाता है तो वे भी यह विचार करतें हैं कि भविष्य में उनका व्यवहार भी इसी तरह का होना चाहिए। सहानुभूति के कारण एक ही व्यक्ति उन व्यवहारों को भी अपना पाता है जिसे कठिन कहा जाता है।

(5) पालन–पोषण – पालन–पोषण के माध्यम से भी बच्चा सीखता है कि उसे क्या करना चाहिए। बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करते समय उन्हें यह बताया जाता है कि किस व्यवहार को करना चाहिए और किसे नहीं। लालन–पालन का स्तर व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार के स्तर को भी तय करता है।

(6) सामाजिक प्रशिक्षण – किशोरावस्था ही विभिन्न व्यवहारों अथवा विभिन्न प्रकार के ज्ञानों को सीखने के लिए उपयुक्त माना जाता है। इस आयु में व्यक्ति में केवल अपने परिवार से ही प्रभावित न होकर आस–पास के अन्य समूहों तथा शैक्षणिक संस्थाओं से प्रभावित कर लेता है। वह विभिन्न नैतिक मान्यताओं को भी आत्मसात करता है। डोलार्ड और मिलर ने लिखा है कि सामाजिक शिक्षण चार तत्वों पर आधारित हैं –

- प्रेरक
- संकेत
- प्रत्युत्तर
- पुरस्कार

(7) पुरस्कार और दण्ड – अच्छे कार्यों के करने पर बच्चों को पुरस्कार प्रदान किया जाता है और जब वे खराब काम करते हैं तो उन्हें दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार पुरस्कार और दण्ड के द्वारा बच्चों के व्यवहारों को निर्देशित किया जाता है। सभी लोगों के लिए कार्य की आवश्यकता तब पड़ती है जब सामने कोई लक्ष्य होता है। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही व्यक्ति विभिन्न व्यवहारों को करता है। पुरस्कार के प्रलोभन में तथा दण्ड के भय से व्यक्ति सामाजिक नियमों के अनुकूल व्यवहार करता है। यह आवश्यक नहीं कि पुरस्कार और दण्ड मूर्त ही हों वे किसी भी रूप में हो सकतें हैं। जैसे – किसी कार्य के बदले में एक मुस्कान ही पुरस्कार का रूप हो सकता है। दण्ड के बारे में विचारकों का मत है कि गलत कार्य के लिए दण्ड का प्रयोग होना चाहिए जबकि कुछ लोगों का विचार है कि दण्ड का प्रयोग बिल्कुल भी नहीं होना चाहिए क्योंकि दण्ड देना व्यक्तित्व के विकास में हानिकारक होता है और इससे व्यक्तिओं के आत्म सम्मान में धक्का लगता है और वे समाजीकरण की प्रक्रिया और उसके साधनों के प्रति द्वेष की भावना व्यक्त करने लगतें हैं। जानसन ने लिखा है कि बच्चों को दो कारणों से दण्ड नहीं देना चाहिए –

1. दण्ड समाजीकरण के कारकों में घृणा उत्पन्न करेगा।

2. जिस क्षेत्र में वह दण्डित हुआ है उसमें वह अधिक व्याकुलता व्यक्त करने लगेगा और सामान्य इच्छित व्यवहार प्रतिमानों में नियंत्रण लगा देगा।[01]

विभिन्न विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि छोटी आयु के बच्चों को दण्ड बिल्कुल नहीं देना चाहिए क्योंकि इससे मानसिक घाव होने की सम्भावना बनी रहती है। बच्चों को पुरस्कार के द्वारा ही समाजीकृत करना चाहिए। यदि दण्ड देना आवश्यक ही हो तो उसे सात वर्ष के बाद ही दण्ड देना चाहिए।

(8) सहमति और असहमति – जब बच्चा ठीक व्यवहार करता है तो सहमति व्यक्त करनी चाहिए। यदि वह समाजयोचित व्यवहार नहीं करता तो असहमति प्रकट करनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपने समूह के नियमों के अनुसार इसलिए व्यवहार करता रहता है क्योकि उसके व्यवहार को सहमति अथवा असहमति के द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

(9) मजाक उड़ाना – मजाक उड़ाने से बच्चा शर्मिन्दा होता है और अपने व्यहार में संशोधन करता है। अधिक मजाक समाजीकरण में बाधक सिद्ध हो सकता है।

समाजीकरण और सीखना – सीखना और समाजीकरण दोनो में कुछ मूलभूत अन्तर है। समाजीकरण में जो सीखना है वह एक निश्चित दिशा में होता है और उसका निर्धारण समाज करता है। सीखना अच्छा या बुरा कुछ भी हो सकता है जबकि समाजीकरण द्वारा हम जिन व्यवहारों को सीखते हैं वे साधारणतया अच्छे होते हैं क्योंकि वे सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होते है। चूँकि विभिन्न समाजों में सामाजिक मूल्य अलग–अलग हुआ करतें हैं यही कारण है कि विभिन्न समाजों मे समाजीकरण के प्रक्रिया के अन्तर्गत जिन व्यवहारों को सीखा जाता है वे भिन्न–भिन्न हुआ करता है। जानसन ने लिखा है कि समाजीकरण वह सीखना है जो सामाजिक कार्यों के करने की किसी भी योग्यता में योगदान देता है और वह किसी विशेष दिशा तथा गुण को धारण किये हुए होता है। किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में यह इच्छित तथा उचित साखना है।[01]

इस प्रकार हम देखते है कि सीखना एक तटस्थ धारणा है। इसकी दिशा कुछ भी हो सकती है यह अच्छा भी हो सकता है और खराब भी। जबकि समाजीकरण का सम्बन्ध सदैव अच्छी चीजों को सीखने से हो सकता है। यही कारण है कि इसकी दिशा निश्चित होती है। समाजीकरण में हम उन चीजों को सीखते हैं जिनको सभी लोग आदर्श व्यवहार कहते हैं। इन्हीं व्यवहारों को सीखकर व्यक्ति समाज में रहने के योग्य बनता है और सामाजिक विरासत में स्वयं कुछ योगदान देता है।[02] जानसन ने भी समाजीकरण और सीखने में अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण सीखना समाजीकरण नहीं है बल्कि वह सीखना समाजीकरण है जो सामाजिक व्यवस्था तथा सम्प्रेरणाओं के लिए आवश्यक माना जाता है।[03]

सीखना किसी व्यक्ति विशेष के लिए लाभप्रद हो सकता है पर यह आवश्यक नहीं है कि वह सामाजिक व्यवस्था के लिए भी वैसा ही हो। समाजीकरण में सीखना एक व्यक्ति के लिए साथ ही साथ सम्पूर्ण समाज के लिए श्रेयस्कर होता है।

10.5 सारांश

समाजीकरण एक जैविक व्यक्ति को सामाजिक प्राणी के रूप में रूपान्तरित करता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार सबसे महत्वपूर्ण साधन है। समाजीकरण के विभिन्न साधनों में प्राथमिक साधन व द्वैतीयक साधन सबसे महत्वपूर्ण हैं। प्राथमिक साधनों में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है जबकि आयु समूह, पड़ोस, नातेदारी समूह, शैक्षणिक समूह, मित्र मंडली, क्लब, मनोरंजन गोष्ठी आदि भी जैविक व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने में सहयोग करतें हैं। बच्चा अपने परिवार के सदस्यों का अनुकरण करता है जिससे उसमें मानवोचित गुणों का विकास होता है। बच्चे अपने आयु समूह में रहकर उनसे आवश्यक व्यवहार प्रतिमानों को ग्रहण करतें हैं। अच्छे व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अच्छा पड़ोसी होना आवश्यक है। बच्चों पर सगे सम्बन्धियों व नातेदारी समूह का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। औपचारिक रूप में शैक्षणिक समूह ब्च्चों में नैतिकता और व्यवहार में नियंत्रण के सभी साधनों का ज्ञान प्रदान करती है। बालकों के सही समाजीकरण के लिए अनुशासित व सभ्य मित्रमंडली आवश्यक है।

समाजीकरण के द्वैतीयक साधनों में व्यक्ति जैसे–जैसे बड़ा होता है उसका सम्पर्क द्वैतीयक समूहों के साथ बढ़ने लगता है। जिसमें धार्मिक समूह, आर्थिक समूह, सामाजिक समूह, राजनैतिक समूह, सांस्कृतिक समूह, मनोरंजनात्मक समूह आदि अपनी आवश्यक और महत्वपूर्ण भूमिका उस बालक को सामाजिक व नैतिक प्राणी बनाने में अदा करते है।

समाजीकरण में सहयोग प्रदान करने वाले प्रमुख कारक निम्नलिखित है।

1. सुझाव 2. अनुकरण 3. सहानुभूति 4. पालन–पोषण 5. सामाजिक प्रशिक्षण 6. पुरस्कार और दण्ड 7. सहमति और असहमति 8. मजाक उड़ाना आदि। समाजीकरण और सीखने के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण सीखना समाजीकरण नहीं है बल्कि वह सीखना समाजीकरण है जो सामाजिक व्यवस्था तथा सम्प्रेरणाओं के लिए आवश्यक माना जाता है।

10.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- के0 के0 मिश्र "समाजिक नियंत्रण एवं परिवर्तन"
- एच0 एम0 जानसन, "सोशियोलोजी"
- किंवलयंग "ए हैण्डबुक आफ सोशल साइकोलोजी"
- मैकाईवर और पेज – "सोसायिटी"

10.7 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजीकरण के अभिकरण से आप क्या समझते हैं, प्राथमिक साधन व द्वैतीयक साधन किस प्रकार समाजीकरण में सहयोग करते हैं?

प्रश्न 2 समाजीकरण के प्रमुख कारकों की विवेचना करें। समाजीकरण और सीखना में क्या सम्बन्ध है?

प्रश्न 3 प्राथमिक साधन व द्वैतीयक साधनों के महत्व को स्पष्ट करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 समाजीकरण के प्राथमिक समूहों की ईकाइयों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2 समाजीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 समाजीकरण का सबसे महत्वपूर्ण साधन कौन सा है।

(क) जाति (ख) परिवार

(ग) नातेदारी समूह (घ) आयु समूह

प्रश्न 2 समाजीकरण का द्वैतीयक साधन है?

(क) पड़ोस (ख) भाषा समूह

(ग) क्लब (घ) मित्रमंडली

प्रश्न 3 समाजीकरण में किन साधनों का उपयोग होता है?

(क) प्राथमिक (ख) द्वैतीयक

(ग) तृतीयक (घ) सभी

प्रश्न 4 समाजीकरण होता हैं।

(क) बचपन में (ख) युवावस्था में

(ग) वृद्धावस्था में (घ) हमेशा

उत्तर– 1– (ख) 2– (ग) 3– (घ) 4– (घ)

इकाई—11

अनौपचारिक शिक्षा एवं समाजीकरण

इकाई की रूपरेखा–

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 अनौपचारिक शिक्षा की परिभाषा

11.3 प्राचीन कालीन समाजीकरण प्रक्रिया

11.4 अनौपचारिक शिक्षा की आवश्यकता

11.5 अनौपचारिक शिक्षा और औपचारिक शिक्षा में अन्तर

11.6 अनौपचारिक शिक्षा के सामाजिक लक्ष्य

11.7 अनौपचारिक शिक्षा और समाजीकरण

11.8 सारांश

11.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.10 परीक्षापयोगी प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे–

- अनौपचारिक शिक्षा की परिभाषा व आवश्यकता।
- अनौपचारिक शिक्षा और औपचारिक शिक्षा में अन्तर।
- अनौपचारिक शिक्षा के सामाजिक लक्ष्य व समाजीकरण।

11.1 प्रस्तावना

जीवन और शिक्षा में अभिन्नता का नाम ही अनौपचारिक शिक्षा है। भारतवर्ष में माता पिता को अपनी सन्तानों के केवल जनक के रूप में नहीं जाना जाता अपितु उन्हे शिक्षक भी माना जाता था। इसी प्रकार गुरूकुल व्यवस्था में शिक्षक को केवल शिक्षक ही नहीं कहा जाता था अपितु शिक्षक और उनकी पत्नी विद्यार्थी के माता पिता की भूमिका का सम्पादन भी करते थे। ऐसी व्यवस्था में शिक्षा और जीवन की वास्तविकता के बीच भेद करना कठिन था और यही स्थिति अनौपचारिक शिक्षा का केन्द्र बिन्दु है। अनौपचारिक शिक्षा का दर्शन यह इंगित करता है कि एक स्तर

पर जीवन और शिक्षा में कोई अन्तर नहीं रह जाता अर्थात जीवन ही शिक्षा बन जाता है और शिक्षा ही जीवन बन जाती है। औपचारिक शिक्षा में यह बात देखने को नहीं मिलती। इस व्यवस्था में माता पिता में शिक्षकत्व नही होता और वहीं शिक्षकों में माता–पिता जैसी भावना नहीं रह पाती है। यही कारण है कि औपचारिक शिक्षा शिक्षण की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें शिक्षा और जीवन दर्शन दोनों अलग–अलग पड़ जाते है और दोनों में वास्तविक ताल–मेल नहीं रह पाता। अनौपचारिक शिक्षा किसी विशिष्ट समुदाय से विशिष्ट रूप से ही सम्पादित होनी चाहिए ताकि वह समुदाय विशिष्ट समस्याओं, आवश्यकताओं और कमियों का समाधान अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से हो सके।

11.2 अनौपचारिक शिक्षा की परिभाषा

अंग्रेज विचारक फिलिप कुम्बस ने अपनी पुस्तक "न्यू पाथ एण्ड लर्निंग" में अनौपचारिक शिक्षा की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "अनौपचारिक शिक्षा पारम्परिक औपचारिक शिक्षा प्रणाली के बाहर एक ऐसी व्यवस्थित शैक्षिक प्रवृति है जो किसी सुनिश्चित विद्यार्थी समूह और सुनिश्चित लक्ष्यों के लिए या तो अलग से या किसी अधिक व्यापक प्रवृति के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में चलती हो।"

यदि उपरोक्त परिभाषा की विवेचना किया जाय तो अनौपचारिक शिक्षा की अग्रलिखित विशेषताएं परिलक्षित होतीं हैं –

- अनौपचारिक शिक्षा एक प्रवृत्ति है।
- यह पारम्परिक औपचारिक शिक्षा प्रणाली के बाहर होती है।
- इसे भी व्यवस्थित ढ़ंग से चलाया जाता रहा है।
- यह किसी सुनिश्चित विद्यार्थी समूह के लिए होती है।
- इसके लक्ष्य सुनिश्चित होते हैं।

जो शिक्षा विद्यार्थी को अनिवार्य रूप से जीवन निर्वाह की दायित्वपूर्ण कर्म प्रक्रिया में लगाकर रखती है तथा उस प्रक्रिया को शिक्षा का मूल मानती है वही अनौपचारिक शिक्षा है।

11.3 प्राचीन भारत में अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से समाजीकरण प्रक्रिया की निरन्तरता

आचार्य संदिपनी ऋषि ने अपने आश्रम में शिक्षा व्यवस्था की जो रूपरेखा चलायी थी वह शुद्ध रूप से अनौपचारिक शिक्षा थी। इस शिक्षा व्यवस्था में कुलीन कृष्ण और जनसाधारण सुदामा दोनो के लिए एक जैसी कल्याणकारी और समतामूलक सामाजिक व्यवस्था में सह–अस्तित्व का दर्शन था। कृष्ण और सुदामा दोनों एक साथ जंगल में लकड़ी बटोरने इसलिए भेजे जाते थे ताकि दोनो को

समान रूप से यह आभास हो सके कि भूख और प्यास, सर्दी और गर्मी और बरसात का प्रभाव अमीर और गरीब दोनों पर समान रूप से पड़ता है।

सच्ची शिक्षा जीवन की वास्तविक प्रक्रिया का ही अभिन्न अंग है और उसके लिए कोई भी ऐसी कृत्रिम व्यवस्था करना जिसमें शिक्षा जीवन से और जीवन शिक्षा से कट जाय मानव समाज को विकृत की ओर ले जा सकता है और उसमें जटिलताएं और समस्याएं भी पैदा कर सकता है। भारतीय दर्शनशास्त्र इस विषय में बिल्कुल स्पष्ट है कि जीवन की प्रक्रियाएं भी एक ब्रह्माण्डीय अन्तः सहयोग चक्र से पैदा होती है और निरन्तर चलती रहती है। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है सब एक दूसरे से अन्तःसम्बन्धित है। इसी को मनीषियों ने 'यज्ञ चक्र' का नाम दिया है। 'धारयतीति धर्मः' जो धारण करता है अथवा जिससे निर्वाह होता वही धर्म है। सूर्य, तारे, चन्द्रमा, पृथ्वी, हवा, पानी, पेड़–पौधे, पशु–पक्षी इस ब्रह्माण्ड के सभी निर्णायक अन्तः सहयोग चक्र में अपना निजी अंशदान निरन्तर दे रहे हैं और ऐसा करते हुए वे स्वयं सुरक्षित हैं और दूसरों की रक्षा कर रहे हैं। (धर्मो रक्षति रक्षतः)

एक बालक बहुत छोटी अवस्था में प्रकृतिक रूप में अपने माता–पिता और परिवार के अन्य सदस्यों के व्यवहारों का अनुकरण करता है। उसकी यह चेष्टा यह सिद्ध करती है कि वह परिवार के काम–काज में अपना अंशदान देने के लिए अति–उत्सुक है। यह है। बालक का नैसर्गिक अथवा प्राकृतिक स्वभाव। इस स्वभाव के कारण ही उसकी भावी शिक्षा सम्भव हो पाती है और तत्पश्चात् उसका विकास भी होता है। जीवन का मूल श्रोत जीवन का उद्‌गम और निर्वाह ब्रह्माण्डीय अन्तः सहयोग चक्र से होता है। इस अन्तः सहयोग का प्रत्यक्ष अनुभव ही तो शिक्षा का मूल है। जो शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थियों को सृष्टि के इस मूल अन्तः सहयोग चक्र में भाग लेने योग्य बनाती है वहीं शिक्षा वास्तविक है और उसे ही अनौपचारिक शिक्षा कहते हैं।

11.4 अनौपचारिक शिक्षा की आवश्यकता

विभिन्न देशों में अनौपचारिक शिक्षा की अवधारणा और आवश्यकता अलग–अलग है। अनौपचारिक शिक्षा की आवश्यकता के पीछे औपचारिक व्यवस्था की कमियॉ, उससे निराशा और असन्तोष और असफलता जैसे कुछ प्रमुख तत्व है। कुछ प्रमुख कारण अग्रलिखित हैं जो अनौपचारिक शिक्षा की आवश्यकता को दर्शातें हैं –

(1) विकसित और विकासशील देशों में आज अनुभव किया जा रहा है कि औपचारिक शिक्षा अधिक महॅंगी, विस्तृत और परिष्कृत हो गयी है। महंगी होने के कारण प्रत्येक प्रकार की शिक्षा समाज के सभी वर्गों के लिए सम्भव नहीं। यह स्थिति बाध्य करती है कि औपचारिक शिक्षा का कोई विकल्प हो। वर्तमान समय में वह विकल्प केवल अनौपचारिक शिक्षा के रूप में दिखाई पड़ती है।

(2) समाज में अनेक प्रकार के शैक्षणिक संस्थाओं के प्रचलन के कारण जैसे – सरकारी विद्यालय, निजी विद्यालय, कान्वेन्ट प्रारूप विद्यालय आदि के कारण एक ही समाज के साक्षर बालक और बालिकाओं में भेदभाव अवश्यंभावी हो जाता है जो

समाज की एकीकरण के लिए उचित नहीं हैं। यह स्थिति भी अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता पर बल देती है।

(3) अमेरिका तथा यूरोप के अनेक देशों में आज युवा अतिसक्रियता और युवा असन्तोष अधिक देखने को मिल रहा है यह स्थिति भी अनौपचारिक शिक्षा के आवश्यकता को स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है।

(4) उन देशों में जहॉ राजनैतिक क्रान्तियॉ आये दिन हुआ करती है उन देशों में भी अनौपचारिक शिक्षा का अनुभव किया जाता है।

(5) जिन समाजों में साक्षरता का प्रतिशत बहुत कम है जैसे भारत वर्ष आदि वहॉ साक्षरता का प्रतिशत बढ़ाने के लिए अनौपचारिक शिक्षा ही अकेला विकल्प है। भारत वर्ष में प्रौढ़ शिक्षा के कारण ही इधर के वर्षों में साक्षरता का प्रतिशत बढ़ा है।

(6) महिला विकास एवं सशक्तिकरण – अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से महिलाओं का विकास और उनके सशक्तिकरण के लिए जो कार्यक्रम चलाये जा रहे है उसकी सफलता अनौपचारिक शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। सशक्तिकरण के अन्तर्गत वे कार्यक्रम सम्मिलित हैं जिससे महिलाएॅ सकारात्मक आत्मदृष्टि निर्मित कर सकें और अपने में आलोचनात्मक चिन्तन की क्षमता बढ़ा सके। सामूहिक भावना मे वृद्धि और सामूहिक फैसलों में एकमतता जो सकारात्मक सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक है अनौपचारिक शिक्षा से ही सम्भव है। महिलाओं में साक्षरता का प्रतिशत बढ़ाने के लिए ही महिला शिक्षण केन्द्रों की स्थापना हुई है।

11.5 अनौपचारिक शिक्षा और औपचारिक शिक्षा के बीच अन्तर

क्रम सं0	अनौपचारिक शिक्षा के लक्षण	औपचारिक शिक्षा के लक्षण
1	अनौपचारिक शिक्षा में विद्यार्थी सृष्टि के निवार्ह चक्र अथवा लोक संग्रह में अपना दायित्व निभाते हुए भी शिक्षा ग्रहण करता है। अनौपचारिक शिक्षा अपने केन्द्र बिन्दु में नैतिकता को स्थान देती है।	औपचारिक शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत एक शिक्षार्थी केवल एक विद्यार्थी की भूमिका निभाता है एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में उसका क्या दायित्व समाज के प्रति होना चाहिए इसका बोध उसे नहीं हो पाता।
2	अनौपचारिक शिक्षा जीवन के हर पहलू से जुड़ी हुई होती है इसलिए अनौपचारिक शिक्षा का उद्देश्य आंशिक प्राप्ति न होकर समग्र प्राप्ति होती है। अनौपचारिक शिक्षा जीवन पर्यत्न चल सकती है क्योंकि इससे आत्म बोध का ज्ञान प्राप्त होता	औपचारिक शिक्षा जीवन और सामाजिक पर्यावरण दोनो से कटी हुयी खंडित तथा एकांगी होती है औपचारिक शिक्षा विद्यार्थी के लक्ष्य प्राप्ति अथवा उपाधि प्राप्ति के साथ ही समाप्त हो जाती है और इसमें आत्म अनुशासन और आत्म

	है।	शिक्षण के नियमित प्रक्रिया का बोध नहीं हो पाता।
3	अनौपचारिक शिक्षा स्वयं शिक्षकों छात्रों स्थानीय लोगों और अभिभावकों द्वारा निर्धारित और नियंत्रित होते हैं।	औपचारिक शिक्षा के प्रत्येक चीज का निर्धारण सरकार के हाथ में होता है। कहीं कहीं स्वयं ऐसी स्वयंसेवी शिक्षण संस्थाएं भी इसमें योगदान करतीं है। माता–पिता तथा स्थानीय समुदाय का इसमें प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं होता।
4	अनौपचारिक शिक्षा स्थानीय सामाजिक तथा विद्यार्थियों की स्वयं की जिज्ञासा से उठने वाली प्रश्नों से प्रेरित शिक्षा होती है।	औपचारिक शिक्षा में कुछ चीजे पहले से निधारित होतीं हैं उन्हे निधारित आधारों पर ही विद्यार्थियों को प्रश्नो का जबाब देना होता है।
5	अनौपचारिक शिक्षा में प्राप्त की जाने वाली शिक्षा का लाभ अथवा इसका उपयोग स्वयं शिक्षा में निहित होता है।	औपचारिक शिक्षा में प्राप्त शिक्षा का लाभ बाहरी लोगों के फैसलों और हाथ में होता है। विद्यार्थियों को परीक्षा के आधार पर उनकी सफलता असफलता का निर्णय बाहरी लोग करते हैं यही कारण है कि औपचारिक शिक्षा में मूल्यांकन के दौरान असफलता का डर हमेशा बना रहता है।
6	अनौपचारिक शिक्षा में विद्यार्थी जो भी शिक्षा या ज्ञान प्राप्त करता है उससे वह सदैव जागरूक रहता है कि उसके जीवन में उस शिक्षा का क्या प्रयोजन है।	औपचारिक शिक्षा में उपाधि मिलने के बाद भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस उपधि का व्यवहारिक जीवन से क्या प्रयोजन होगा।
7	अनौपचारिक शिक्षा से समाज के सभी वर्गों का कल्याण होगा। इस प्रकार की भावना इस शिक्षा के उद्‌देश्य में निहित है।	औपचारिक शिक्षा में शैक्षणिक संस्थाओं की समाज में स्थिति और विद्यार्थियों की सामाजिक पृष्ठभूमि तयं करेगी कि जीवन में इस शिक्षा से उसे क्या लाभ मिलेगा।

11.6 अनौपचारिक शिक्षा के सामाजिक लक्ष्य

अनौपचारिक शिक्षा का मुख्य उद्‌देश्य व्यक्ति और समाज का रूपान्तरण है। यदि किसी समाज में मानवीय लक्ष्य श्रेष्ठ है तो निःसंन्देह सामाजिक लक्ष्य भी श्रेष्ठ होंगे। अनौपचारिक शिक्षा शिक्षार्थी के चरित्र को निर्मित करने का भी संकल्प लेती है। अनौपचारिक शिक्षा एक व्यक्ति के जीवन के प्रारम्भ से उसके अन्तिम समय तक अपना प्रभाव डालती है क्योंकि इसमें शिक्षा को एक अखण्ड तत्व माना गया है। आज के जटिल समाज में मानव की मूल समस्याएँ क्या हैं? उन समस्याओं का

समाधान क्या हो सकता है? अनौपचारिक शिक्षा का इसमें अधिक योगदान होता है। विचारकों ने अनौपचारिक शिक्षा के जिन सात लक्ष्यों को व्यक्ति और समाज के विकास के लिए आवश्यक माना है वे अग्रलिखित हैं –

1. सजगता –

सजगता का दूसरा नाम ही जागरूकता हैं। समाजशास्त्र में केवल वही व्यवहार सामाजिक कहा जाता है जिसमें जागरूकता का बोध हों। जागरूकता से ही जड़ता का विनाश होता है। सरस्वती को अन्धकार से प्रकाश में लाने वाली शक्ति माना गया है। (तमसो मॉ ज्योतिर्गमय) मनुष्य में रूढ़िवादिता का अन्त और विचार तथा चिन्तन की क्षमता में वृद्धि सजगता के कारण ही सम्भव हो पाता है। जागरूकता में वस्तुपरक विचारों का ही केवल समावेश है। अनौपचारिक शिक्षा का सम्बन्ध उस प्रभाव से है जिससे कि हम जीवन को प्रबुद्ध तरीके से जी सकें।

2. सहजीवन –

अनौपचारिक शिक्षा सह अस्तित्व पर बल देती है। आदिम युग में मनुष्यों ने अनुभव किया कि जीवन की रक्षा और जीवन में विकास सह अस्तित्व पर ही सम्भव है। अनौपचारिक शिक्षा आपसी द्वेष से बचने की सलाह देती है और सामूहिक प्रयासों से एक शान्तिपूर्ण समाज के गठन पर बल देती है। मनुष्य की मूल प्रवृतियॉ कभी–कभी उसे अपने जीवन लक्ष्य से भटकाकर इसे भी नकारने लगती है कि जीवन का रहस्य सह जीवन या सह अस्तित्व में है। सहयोग और सहकारिता में है। सहजीवन सिद्धान्त से भटकने के कारण ही समाज में गरीबी, अभाव तथा दुर्बलता आने लगती है और मानव विनाश की और अग्रसर होता है। अनौपचारिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य लोगों को सहजीवन तथा सह अस्तित्व का बोध कराना है। सहजीवन से ही सर्वोदय का दर्शन सम्भव है जिसमें कहा गया है कि "सर्वे भवन्ति सुखिनः।

3. स्वावलम्बन –

स्वावलम्बन का केन्द्र बिन्दु मूल मानव अधिकार से है। मनुष्य को ऐसा जीवन जीने का बुनियादी हक है कि वह स्वावलम्बी हो और उसका बुनियादी कर्तब्य है कि वह स्वावलम्बी हो। स्वावलम्बन संतुलित होना चाहिए जिसमें कि व्यक्तिगत स्वाधीनता के साथ साथ उसकी समाजिकता भी कायम रहे। चरित्र निमार्ण के लिए भी स्वावलम्बन जरूरी है और स्वावलम्बन के लिए मनुष्य को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह अपने जीवन से जुड़े सारे कार्यों को कर ले। स्वावलम्बन सम्मानपूर्वक जीवन यापन की भी प्रेरणा देता है।

4. सम्पन्नता –

अनौपचारिक शिक्षा गरीबी हटाने में सहायक हो सकती है और समाज में समृद्धि या सम्पन्नता ला सकती है। सम्पन्नता के लिए कड़ी मेहनत, संयम, साधनों का कम उपभोग, सादा जीवन, सहयोग, दूर दृष्टि, सूझ–बूझ, त्याग आदि आवश्यक है। कोई भी राष्ट्र अपनी भावी पीढ़ी के लिए प्रेम ओर त्याग की भावना से दूर दृष्टि के साथ योजना पूर्वक कड़ी मेहनत किये बिना समृद्धि का युग नहीं ला सकता। सम्पन्नता का अर्थ है कि भविष्य के पक्ष में वर्तमान को अधिक संयमित और अधिक

नियोजनबद्ध तरीके से प्रयोग में लाया जाय। भारतवर्ष के संदर्भ में उपलब्ध सामाजिक संसाधनों में आवश्यकतानुसार कुछ का उपयोग करके बाकी को दूसरों के लिए बचाये रखना सम्पन्नता है। पश्चिमी देशों में उपभोक्तावाद उन समाजों की समृद्धता में बाधक सिद्ध हो सकता है।

5. सौन्दर्य –

अनौपचारिक शिक्षा का उद्‌देश्य सौन्दर्य प्राप्ति भी है। सौन्दर्य का अर्थ है जीवन की सभी पहलूओं की सुन्दरता। जीवन में जब सुन्दरता घट जाती है तब आर्थिक सम्पन्नता की भूख बढ़ जाती है इसके कारण समाज में शोषण और वर्ग संघर्ष देखने को मिलता है। इसलिए अनौपचारिक शिक्षा का लक्ष्य सौन्दर्यबोध होना चाहिए न कि आर्थिक सम्पन्नता। स्वास्थ्य, स्वच्छता, कलापूर्णता, प्रेम, आनन्द, आध्यात्म ये सभी सौन्दर्य बोध के अन्तर्गत आते है। ईश्वर के जो तीन पक्ष है सत्यम (हमेशा रहने वाला) शिवम् (कल्याणकारी) सुन्दरम (स्वयं में विश्राम देने वाला) यही तीनों पक्ष अनौपचारिक शिक्षा के भी लक्ष्य हैं। सौन्दर्य एक ईश्वरीय झलक है जिसे हमें स्वयं में ढालने की आवश्यकता है। सुन्दर वातावरण में ही सुन्दर मानव सृजित हो सकता है। उचित व्यक्ति बनने के लिए एक व्यवस्थित अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी जो शोषण और प्रतिस्पर्धात्मक न हो अपितु श्रम और सहयोग मूलक हो। अनौपचारिक शिक्षा से आनन्द, सन्तोष, सेवा रूपी धर्म, प्रेम, विवेक, सृजनशीलता, सच्चाई आदि की प्राप्त होती है।

6. सत्संग –

समाज में जागृति लाने के लिए सत्संग आवश्यक है। सत्संग में पहला तत्व यह है कि शिक्षा केवल शिक्षार्थियों तक ही सीमित न रहे अपितु वह पूरे समुदाय का अंग बने। सत्संग से तात्पर्य आसुरी प्रवृतियों को समाप्त करने से भी है। मानव का स्वभाव कुछ ऐसा है कि सत्संग पाकर वह अच्छे मार्ग पर स्वतः चल देता है। वास्तव में शिक्षा का दूसरा नाम ही सत्संग है। भारतीय संस्कृति में सत्संग को विशेष स्थान प्राप्त है। सर्व धर्म सम्भाव का सिद्धान्त सत्संग से ही सम्भव है। कोई भी कार्यक्रम जिससे मनुष की मनोवृतियॉ असत्य से सत्य की ओर तमस से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर अग्रसर हो वही सत्संग है। सत्संग द्वारा अपराध वृद्धि में कमी का अनुभव किया जाता है और सत्संग से उत्तरदायित्व की भावना भी विकसित होती है।

7. सत्याग्रह या सत्य पालन –

यदि कोई व्यक्ति अपने को शिक्षित करता है तो उसे सत्य पालक होना चाहिए। महात्मा गॉधी भारतीय इतिहास में सत्याग्रह के अग्रदूत माने जातें हैं। परन्तु भारत में बहुत प्राचीन काल से ही सत्याग्रह के आधार पर व्यवहार की परम्परा रही है। उदाहरण स्परूप नचिकेता ने जब देखा कि उनके पिता यज्ञ में घुन लगे हुए अन्नों तथा बूढ़ी गायों का दान कर रहें हैं तो अपने पिता से पूछा कि पिताजी आप मेरा दान किसको कर रहे हैं। पिता ने चिढ़ कर जवाब दिया मैं तेरा दान यमराज को कर रहा हूँ और इस प्रकार नचिकेता यमराज के यहॉ जा पहुँचे जिन्होंने बाद में उन्हें वापस अपने घर को भेजा। रामायण में भरत का उदाहरण भी सत्याग्रह का उदाहरण है। भरत को जब लगा कि राम के साथ अन्याय हुआ है तो उन्होने राज्य को अस्वीकार कर दिया और सबके सामने सत्याग्रह का उदाहरण रखा। यूनान में सुकरात, राजस्थान में मीरा और राणाप्रताप, झॉसी की रानी का उदाहरण सत्याग्रह का उदाहरण है। परन्तु महाभारत काल में भीष्म और द्रोण का उदाहरण सत्याग्रह

के आदर्श के विपरीत है। सत्याग्रह में भावना यह है कि मनुष्य का सच्चा मित्र, सगा सम्बन्धी और मालिक यदि कोई है तो वह सत्य है। जो शिक्षित व्यक्ति सत्य से प्रतिबद्धता नहीं रखता वह स्वयं ही आत्मग्लानि, कुण्ठा और अशोभनीय जीवन का शिकार बन जाता है और उसे कभी भी मानसिक शान्ति नहीं मिलती और उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कारती रहती है। सत्याग्रह एक उच्चतर जीवन पद्धति है जो अनौपचारिक शिक्षा से सम्भव है।

11.7 अनौपचारिक शिक्षा और सामाजीकरण

समाजीकरण एक प्रक्रिया है जिसके कारण कोई व्यक्ति समाजोचित बन पाता है और उसमें मानवोचित गुणों का प्रचुर विकास हो पाता है। अनौपचारिक शिक्षा न केवल व्यक्ति का नैतिक और अध्यात्मिक विकास करती है अपितु व्यक्ति के समग्र विकास मे सहायक होती है।

अनौपचारिक शिक्षा व्यक्ति में जिस शिक्षानुशासन को जन्म देती है उसके कारण एक व्यक्ति निरन्तर समाजोचित, व्यवहारों को सम्पादित करता रहता है जिसके कारण समाज व्यवस्था में सामंजस्य और निरन्तरता बनी रहती है।

शिक्षानुशासन के कारण ही व्यक्ति, समूह, समुदाय और समाज में संयोगात्मक अन्तःक्रिया सम्भव हो पाती है। समाजीकरण की प्रक्रिया में भी संयोगात्मक अन्तःक्रिया को अपनाने पर बल दिया जाता है।

अनौपचारिक शिक्षा सहयोग, बन्धुत्व और सहभागिता की संवेदना पैदा करता है जो उचित समाजीकरण के लक्षण हैं।

अनौपचारिक शिक्षा कर्तव्य परायणता पर विशेष बल देती हैं। कर्तव्य परायणता ही समाज में सम्पन्नता और समृद्धि के लिए उत्तरदायी होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में कर्तव्य परायणता का बोध कराया जाता है। कर्तव्यवादी मनोवृति कर्तव्य परायणता के लिए आवश्यक है जो अनौपचारिक शिक्षा के द्वारा प्राप्त होता है।

अनौपचारिक शिक्षा समाजिक न्याय में सहायक होती है। समाजीकरण की प्रक्रिया सामाजिक न्याय के तत्वों को अपनाने पर बल देती है। शिक्षा और न्याय के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

अनौपचारिक शिक्षा में प्रशिक्षित व्यक्ति विघटनकारी व्यवहारों को दूर करने में सहायक होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में विघटनकारी व्यवहारों के स्थान पर रचनात्मक व्यवहार प्रतिमान को अपनाने की बात कही जाती है।

अनौपचारिक शिक्षा व्यक्ति को रोजगार परक ज्ञान देकर उसकी भौतिक अथवा आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करती है। भौतिक स्थिति में मजबूरी के कारण ही कोई व्यक्ति आत्मशिक्षण और आत्मशोधन की तरफ अपना ध्यान केन्द्रित कर पाता है। आत्मशिक्षण और आत्मशोधन समाजीकरण का भी लक्ष्य है।

अनौपचारिक शिक्षा की लोकतन्त्र और स्वाधीनता दोनों के लिए अपनी एक विशेष भूमिका है। अनौपचारिक शिक्षा के कारण ही पारस्परिक अविश्वास, पारस्परिक भय, पारस्परिक अन्याय, पारस्परिक असहयोग, पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष, पारस्परिक लूट और ठगी आदि का अन्त सम्भव है और सम्वेदना और सत्यता के साथ सहयोग द्वारा सामाजिक समस्याओं का समाधान स्वयं सम्भव हो सकेगा। अनौपचारिक शिक्षा सहज ज्ञान और सहज स्वरूप विकसित करके लोगों को समाजीकृत करती है।

अनौपचारिक शिक्षा मानव जीवन के मुख्य उद्देश्यों पर चिंतन मनन करता है जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य का समूचा जीवन बचपन से मृत्यु के समय तक एक अन्तरालहीन एवं एक अन्तर हीन शिक्षण का स्वरूप ग्रहण कर लेता है जिसके कारण शिक्षा न तो ब्रम्हचर्य आश्रम तक सीमित रहती है और न ही विद्यालयों की चाहरदिवारी तक और न ही विद्यालय के पाठ्यक्रम तथा उससे जुड़ी परीक्षाओं तक। अनौपचारिक शिक्षा चूँकि मानव जीवन के मूल ध्येय से जुड़ जातीं है इसलिए अनौपचारिक शिक्षा की प्रक्रिया एक अन्तहीन, अन्तरालहीन और सास्वत प्रक्रिया बनी रहती है। यही कारण है कि अनौपचारिक शिक्षा औपचारिक शिक्षा की तुलना में अधिक सशक्त होकर लोगों पर नैतिक और अध्यात्मिक दबाव डालकर समाजीकरण की प्रक्रिया को कार्यरत रखती है।

11.8 सारांश

जीवन और शिक्षा में अभिन्नता का नाम ही अनौपचारिक शिक्षा है। भारत वर्ष में परिवार के माता पिता अपनी संतानों के प्रथम शिक्षक होते हैं जो अनौपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं। अनौपचारिक शिक्षा में लक्ष्य सुनिश्चित होता है। यह एक ऐसी प्रवृति है जो किसी सुनिश्चित विद्यार्थी समूह और सुनिश्चित लक्ष्यों के लिए या तो अलग से या किसी व्यापक प्रवृति के महत्वपूर्ण अंग के रूप में चलती है। प्राचीन भारत में गुरूकुल प्रणाली की शिक्षा अनौपचारिक व्यवस्था पर आधारित थी। जो शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थियों को सृष्टि के इस मूल अन्तः सहयोग चक्र में भाग लेने योग्य बनाती है वहीं शिक्षा वास्तविक है और उसे ही अनौपचारिक शिक्षा कहते हैं। अनौपचारिक शिक्षा की अवधारणा और आवश्यकताएं विभिन्न देशों में अलग–अलग प्रकार की है। औपचारिक शिक्षा वर्तमान में अत्यधिक महगीं होने के कारण सभी वर्गों के लिए सुलभ नहीं रह गया। तब इसके विकल्प के रूप में हम केवल अनौपचारिक शिक्षा को ही पाते हैं। समाज में विभिन्न स्वरूपों के शैक्षणिक संस्थान व प्रचलन बालक–बालिकाओं में भेदभाव पैदा कर रहे हैं जिस कारण अनौपचारिक शिक्षा आवश्यक है। जिन देशों में साक्षरता का प्रतिशत बहुत कम है उन देशों में अनौपचारिक शिक्षा एक प्रमुख विकल्प है। महिला विकास और सशक्तिकरण के लिए विभिन्न प्रकार के महिला शिक्षण केन्द्र व कार्यक्रम अनौपचारिक शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। अनौपचारिक शिक्षा प्रमुख रूप में परिवार, समाज, धर्म, संस्कार आदि से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। जबकि औपचारिक शिक्षा किसी शिक्षण संस्थान में जिसका नियन्त्रण सरकार के हाथ में होता है सम्पन्न होता है। इसमें अधिकतर लक्ष्य पूर्व निर्धारित होते हैं जबकि अनौपचारिक शिक्षा का मुख्य उद्देश व्यक्ति और समाज का रूपान्तरण है। यह उनमें नैतिकता व चरित्र निर्माण को निर्मित करने की प्रेरणा भी देती है। यह शिक्षा सतत और जीवन पर्यन्त चलती रहती है।

अनेक विचारकों ने अनौपचारिक शिक्षा के सात लक्ष्यों को व्यक्ति और समाज के लिए आवश्यक माना है वे हैं –

1. सजगता या जागरूकता जिससे जड़ता का विनाश होता है।
2. सह जीवन – जिसमें सामूहिक प्रयासों से ही शान्तिपूर्ण समाज का गठन होता है।
3. स्वावलम्बन – वह मानव अधिकार जो सम्मानपूर्वक जीवन यापन करने की प्रेरणा देता है।
4. सम्पन्नता – जिसका सामान्य अर्थ भविष्य के पक्ष में वर्तमान को अधिक संयमित और अधिक नियोजनबद्ध तरीके से प्रयोग में लाया जाय।
5. सौन्दर्य – सौन्दर्य का अर्थ है सत्यम, शिवम, सुन्दरम अर्थात जीवन के सभी पहलुओं की सुन्दरता जो लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हों।
6. सत्संग – शिक्षा का विस्तार शिक्षार्थियों से लेकर समाज व समुदाय के प्रत्येक अंग तक हो जिससे उसमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास हो सके।
7. सत्याग्रह या सत्य पालन – कोई भी ऐसी विचारधारा या आचरण या व्यवहार जो सत्य पालन की शिक्षा देता है सत्याग्रह है।

अनौपचारिक शिक्षा सहयोग, बन्धुत्व और सहभागिता की संवेदना पैदा करता है जो उचित समाजीकरण के लक्षण हैं। अनौपचारिक शिक्षा सामाजिक न्याय में सहायक होती है। अतः अनौपचारिक शिक्षा सतत् ओर जीवन पर्यन्त चलती है।

11.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- के0 के0 मिश्र "विकास का समाजशास्त्र"
- टी0 वी0 बोटोमोर "सोसियोलोजी"
- रूचक "सोशल कन्ट्रोल"
- जानसन "सोसियोलोजी"
- दुर्खीम "सोसियोलोजी आफ एजुकेशन"

11.10 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 अनौपचारिक शिक्षा से आप क्या समझतें हैं? अनौपचारिक शिक्षा का मनुष्य के जीवन में क्या महत्व है? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2 अनौपचारिक शिक्षा का सामाजिक लक्ष्य क्या है?

प्रश्न 3 अनौपचारिक शिक्षा को परिभाषित कीजिए।

प्रश्न 4 अनौपचारिक शिक्षा का समाजीकरण से सम्बन्ध स्थापित कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 अनौपचारिक शिक्षा और औपचारिक शिक्षा के बीच अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2 अनौपचारिक शिक्षा की जीवन में क्या आवश्यकता है?

प्रश्न 3 अनौपचारिक शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है मत व्यक्त कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 अनौपचारिक शिक्षा का महत्व है।

(क) परिवार का पालन (ख) माता–पिता की देखभाल

(ग) धर्म का अनुसरण (घ) सभी

प्रश्न 2 अनौपचारिक शिक्षा चलती है?

(क) किशोरावस्था तक (ख) जीवन पर्यन्त

(ग) बाल्यावस्था तक (घ) प्रौढ़ावस्था तक

प्रश्न 3 अनौपचारिक शिक्षा है।

(क) क्लासरूम कार्यक्रम (ख) स्कूल का कार्यक्रम

(ग) कालेज का कार्यक्रम (घ) औपचारिक शैक्षणिक संस्थाओं से अलग

उत्तर– 1– (घ) 2– (ख) 3– (घ)

इकाई 12

औपचारिक शिक्षा और समाजीकरण

इकाई की रूपरेखा–

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 शिक्षा का अर्थ

12.3 औपचारिक शिक्षा का स्वरूप

12.4 सामाजिक विकास में आधुनिक शिक्षा का योगदान

12.5 औपचारिक शिक्षा का सामाजिक प्रक्रिया में योगदान

12.6 सारांश

12.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

12.7 परीक्षापयोगी प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे–

- औपचारिक शिक्षा का अर्थ व स्वरूप।
- सामाजिक विकास में आधुनिक शिक्षा का योगदान।
- औपचारिक शिक्षा का सामाजिक प्रक्रिया में योगदान।

12.1 प्रस्तावना

अनौपचारिक शिक्षा की अपर्याप्तता के कारण समाज के उद्‌विकासीय प्रक्रिया में औपचारिक शिक्षा की आवश्यकता महसूस की गयी। ऐसा सोच बना कि यदि किसी समाज में अधिकांश लोग या सभी लोग शिक्षित हो जाए तो उससे विभिन्न प्रकार की नयी इच्छाएं और आविष्कार की प्रवृतियां अवतरित होंगी और उन्हें पूरा करने के लिए नए–नए साधन विकसित होंगे। इसके परिणाम–स्वरूप जो सामाजिक परिवर्तन होगा वह निःसंदेह सामाजिक विकास को जन्म देगा।

भारतवर्ष में औपचारिक शिक्षा का वर्तमान स्वरूप अंग्रेजों के शासनकाल में प्रारम्भ हुआ। 16वीं सदी में अंग्रेज ईस्ट इंडिया कम्पनी के माध्यम से व्यापार करने के लिए भारत आए। उन्हे भारतीय समाज में औपचारिक शिक्षा की कमी का आभास हुआ। उनका मानना था कि जब तक समाज औपचारिक शिक्षा के माध्यम का आभास हुआ। उनका मानना था कि जब तक समाज औपचारिक शिक्षा के

माध्यम से समस्त ज्ञान की शाखाएं विशेषकर विज्ञान और प्रौद्योगिकी विकसित नहीं होती तब तक भारतीय समाज खुले समाज में परिवर्तित नही हो सकता। अंग्रेजों का मानना था कि भारतवर्ष में जाति, धर्म, क्षेत्र, सम्प्रदाय, प्रजाति आदि के आधार पर अनेक भेदभाव हैं और यही कारण है कि भारतवर्ष में विभिन्नता पग–पग पर देखने को मिलती है। इन्हीं विभिन्नताओं के कारण एकीकरण का भी अभाव है। सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं में एकीकरण समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है जो केवल औपचारिक शिक्षा के माध्यम से सम्भव हो सकता है। इन्हीं सब उद्देश्यों को सामने रखकर अंग्रेजी शासनकाल में स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय आदि स्थापित किये।

12.2 शिक्षा का अर्थ

शिक्षा द्वारा व्यक्ति समाजीकृत होकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। संस्कृति जो जीवन की सम्पूर्ण गतिविधियों को व्यक्त करती है उसकी निरन्तरता शिक्षा के द्वारा सम्भव हो पाती है। फ्रांसीसी विचारक ईमाइल दुर्खीम ने मत व्यक्त किया है कि शिक्षा एक नैतिक दबाव है जिसे पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी पर डालती है। वैसे शिक्षा का व्यापक अर्थ उन सभी वस्तुओं को सीखने से है जिसे व्यक्ति समाज में रहकर ग्रहण करता है। एक शिक्षित व्यक्ति निरक्षर व्यक्ति की तुलना में अपने सामने उपस्थित समस्याओं का समाधान अधिक सफलता के साथ कर लेता है। शिक्षा के द्वारा ही कोई व्यक्ति न केवल अपने समाज का अपितु अन्य समाजों के विभिन्न निर्मायक तत्वों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेता है। शिक्षा के द्वारा ही बीते समय के विभिन्न अनुभव, आधुनिक समाज की समस्याओं का ज्ञान तथा भविष्य की गतिविधियों का अनुमान लगाया जा सकता है। शिक्षित व्यक्ति इसी कारणवश लोकाचार में सफल हो पाते है। शिक्षित व्यक्तिओं को समस्याओं के निराकरण के लिए नियोजित कार्यक्रमों को बनाने में कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है। शिक्षा के द्वारा ही विभिन्न सामाजिक व्यवहारों तथा अनुभवों को दूसरे व्यक्तियों को सिखाया जाता है।[01]

वार्कर ने लिखा है कि शिक्षा से तात्पर्य उन सामाजिक प्रवृतियों से है जिसके द्वारा समाज की ईकाइयॉ सामाजिक चेतना के साथ–साथ मूल प्रवृतियॉ बन जातीं हैं तथा सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना सीख लेती है।

ब्राउन और रूचक ने लिखा है कि शिक्षा अनुभव का वह सम्पूर्ण परिणाम है जो बालक और व्यस्क दोनो की मनोवृतियों को प्रभावित कर उसके व्यवहारों को निर्धारित करता है।

दुर्खीम के अनुसार शिक्षा अधिक आयु के व्यक्तिओं द्वारा उन लोगों के लिए कार्यान्वित वह क्रिया है जो अभी सामाजिक जीवन में प्रवेश के योग्य नहीं है। इसका उद्देश्य शिशु में उन मौलिक बौद्धिक और नैतिक दशाओं की जागृति एवं विकास करना है जो उसके सम्पूर्ण समाज और पर्यावरण के लिए आवश्यक है।

उपरोक्त विचारों के आधार पर सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि औपचारिक शिक्षा वह साधन है जो व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण पर्यावरण सें अनुकूलन कराने में सहायक है।

12.3 औपचारिक शिक्षा का स्वरूप

समाज की जटिलता के साथ–साथ शिक्षा प्रणाली भी परिवर्तित हो रही है। शिक्षण कार्य विशेषीकृत संस्थाओं द्वारा पूरा किया जाता है। पश्चिमी समाजों में तो ऐसे शैक्षणिक संस्थाओं की व्यवस्था है जहॉ जन्म से ही बच्चों को इन्हीं के आधीन कर दिया जाता है। औपचारिक शिक्षा के लिए समय सीमा भी तय होती है। भारतवर्ष में जो औपचारिक शिक्षा 1835 ई0 में अंग्रजों द्वारा प्रारम्भ किया गया उसमें यह तयं किया गया था कि भारतवर्ष में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान को प्रोत्साहित किया जायेगा। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होगा तथा शिक्षा कोष में संचित धन का व्यय अंग्रेजी शिक्षा के लिए खर्च होगा। राजा राम मोहन राय ने भी सरकार की इस नीति का समर्थन किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में धनी लोगों और गरीबों के बीच आपसी मेल–मिलाप के अवसर अत्यधिक संकुचित हो गए। यद्यपि अंग्रेजी सरकार यह कहती थी कि सरकार का उद्देश्य यूरोपीय ज्ञान का प्रसार सभी वर्गो के लोगों में करना है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने से तथा शिक्षा व्यवस्था खर्चीली होने के कारण निम्न मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के लोग इस औपचारिक शिक्षा व्यवस्था से लाभ नहीं उठा सके। 1882 ई0 में एक सर्वेक्षण द्वारा यह पाया गया कि पॉच से बारह वर्ष के दस बालकों के पीछे केवल एक बालक और 250 बालिकाओं के पीछे केवल एक बालिका स्कूल जाती थी। 1939 ई. के एक अन्य सर्वेक्षण से पता चला कि 90 प्रतिशत भारतीय जनता अशिक्षित है। आधुनिक शिक्षा ने न केवल शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच दूरी बढ़ायी अपितु शिक्षा में भी भेदभाव का प्रचलन प्रारम्भ हो गया।[01]

टी0 बी0 बोटोमोर ने दुर्खीम का संदर्भ देते हुए लिखा है कि शिक्षा का कार्य बच्चे के लिए समाज में उचित वातावरण तैयार करने से है जिसका व्यवहारिक रूप यह है कि टी0 बी0 बोटोमोर ने दुर्खीम का संदर्भ देते हुए लिखा है कि शिक्षा का कार्य बच्चे के लिए समाज में उचित वातावरण तैयार करने से है जिसका व्यवहारिक रूप यह है कि उसे सामाजिक श्रृंखला के विशिष्ट समूह की सदस्यता के लिए तैयार करना होता है। समाज में समानता या समता की नीतियों का अनुभव यह बताता है कि समाज से भेदभाव की विशेषता को समाप्त करना बहुत कठिन है क्योंकि बौद्धिक और सामाजिक कारक एक दूसरे से मिले जुले होते हैं। उच्च स्तरीय परिवारों के बच्चे उच्च शिक्षा के लिए सामान्यतया अधिक योग्य होते हैं। यह सम्भव है कि भविष्य में अधिक समतापूर्ण समाजों में जब सामाजिक विषमता पूरी तरह समाप्त हो जायेगी तो ये बाधाएँ भी लुप्त हो सकेंगी। फिर भी ऐसा दृष्टिगत होता है कि जब तक शैक्षणिक चयन है, समाज में विशेषाधिकारी समूह उत्पन्न होते रहेंगे और स्वछन्द नीति और नियंत्रण को अस्पष्ट समता बनाये रख सकेंगे।[01] भारतवर्ष में जहॉ 1857 ई0 में केवल तीन विश्वविद्यालय बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में थे वहीं आज इनकी संख्या सैकड़ों में पहुॅच रही है। महाविद्यालयों की संख्या हजारों में है। कुछ राज्य सरकारों ने तो सभी स्तर की शिक्षा को अपने अधीन कर लिया है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में असमानता अन्तर्निहित हैं। यहॉ तक कि साम्यवादी देशों में भी शैक्षणिक विशेषाधिकार समाप्त नहीं हो पाया है। 1958 ई0 में रूसी शिक्षा में सुधार के बारे में एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी जिससें पता चलता है कि रूस की उच्च शिक्षण संस्थाओं में कुल छात्रों का केवल एक तिहाई भाग श्रमिक तथा कृषक वर्ग का था। दो तिहाई भाग उन परिवारों के थे जो बुद्धजीवी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। भारतवर्ष में स्वतन्त्रता मिलने के बाद शैक्षणिक सुविधाओं में पर्याप्त प्रगति हुई। अनुसूचित जाति और जनजाति के बच्चों के लिए प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालयी स्तर तक शिक्षा निःशुल्क है। डी0 पी0

मुखर्जी ने लिखा है कि आधुनिक शिक्षा ने सम्पूर्ण समाज से उच्च वर्गों की पृथकता को फिर से स्थापित किया है। बोटोमोर ने लिखा है कि विभिन्न आधुनिक समाजों से लिए गए ऑकड़ों से यह ज्ञात होता है कि शैक्षणिक विषमताएं सामाजिक स्तरण से निकट रूप से सम्बन्धित हैं। लिंगों, जातिय समूहों तथा धार्मिक समूहों की अन्य प्रकार की सामाजिक विषमताएं भी साधारणतया शिक्षा के स्तर व प्रकार की विषमता से सम्बन्धित होती है। अधिकांश समाजों में अभी हाल तक स्त्रियों को पुरूषों की अपेक्षा उच्च शिक्षा प्राप्ति के अवसर कम थे तथा भारत में अभी भी ऐसा है। भारतवर्ष में बेसिक शिक्षा का सम्पूर्ण विचार महात्मा गॉधी के सामाजिक दर्शन सर्वोदय पर आधारित है। हुमायू कबीर ने लिखा है कि भूतकाल के बिल्कुल विपरीत जबकि शिक्षकों को सम्मानित किया जाता था चाहे वे गरीब अथवा शक्तिहीन क्यों न हों। आधुनिक भारत में आर्थिक को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। भारतवर्ष मे आधुनिक शिक्षा ने साक्षरता का प्रसार कर अज्ञानता को दूर करने का प्रयास किया है। गुनार मिरडल ने अपनी पुस्तक 'एशियन ड्रामा' में लिखा है कि उन देशों की सबसे प्रमुख समस्या जो अभी उपनिवेष शासन से मुक्त हुए हैं, अज्ञानता की है। भारतवर्ष में भी यही समस्या प्रमुख रही है। 1971 ई0 की जनगणना के अनुसार शिक्षितों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हो सकी। भारतवर्ष में माध्यमिक शिक्षा समिति के अपने एक रिर्पोट में लिखा है कि यहॉ की शिक्षा व्यवस्था परीक्षा प्रणाली से नियंत्रित है जिसके कारण शिक्षकों में अग्रणीयन की कमी पायी जाती है। उनके पढ़ाने लिखानें का ढ़ंग नौराश्यपूर्ण हैं। यह स्थिति विद्यार्थियों के ज्ञानवर्धन में बाधक है। अभिभावक, विद्यार्थी तथा शिक्षक सभी प्रस्तावित परिवर्तनों का विरोध करते हैं। शिक्षा लाभकारी तभी हो सकती है जब शिक्षा की सम्पूर्ण प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। 1971 ई0 की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में जहॉ केवल 42 प्रतिशत पुरूष, 15 प्रतिशत महिलाएं साक्षर थीं वहीं 2011 की जनगणना विज्ञप्ति से पता चलता है कि भारतवर्ष में साक्षरता का प्रतिशत 64 हो गया है। प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था की गयी ताकि अधिक उम्र के निरक्षर भी साक्षर हो सकें। कृषि और परिवार नियोजन कार्यक्रमों की सफलता के लिए भी प्रौढ़ शिक्षा आवश्यक बतायी गयी है। भारतवर्ष में माध्यमिक शिक्षा का विस्तार हुआ और उच्च शिक्षा भी तेजी से बढ़ी है फिर भी यह वृद्धि जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में कम है।

12.4 सामाजिक विकास में आधुनिक शिक्षा का योगदान

(1) वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकीय आत्मनिर्भरता की प्राप्ति

(2) उद्योग तथा कृषि के लिए कर्मचारियों का प्रशिक्षण।

(3) प्रभावशाली ढ़ंग से राजनैतिक तथा प्रशासनिक संस्थाओं की व्यवस्था।

(4) मूल्यों तथा मनोवृत्तियों में परिवर्तन।

(5) सामाजिक समस्याओं का समाधान।

(6) लोगों में सहिसुष्णता तथा तार्किकता का विकास।

उपरोक्त उद्देश्य प्राप्त किये जा सकते हैं यदि आधुनिक शिक्षा पद्धति के कुछ कमियों को दूर कर दिया जाय जो अग्रलिखित हैं–

(1) शिक्षा व्यवस्था में प्रशिक्षण पर कम और सीखने पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। जबकि वर्तमान समय में ऐसा नहीं है।

(2) गरीब तथा अज्ञानी लोगों को इस शिक्षा व्यवस्था से कम लाभ मिला।

(3) शिक्षा केवल मध्यम वर्ग के लिए उपयुक्त है जिसके कारण समानतावादी प्रजातन्त्र का निर्माण नहीं हो सका।

(4) शैक्षणिक संस्थाओं में विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण उन पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता।

(5) यह भावना कि शिक्षा का प्रत्येक सम्बन्ध रोजगार से है शिक्षा के स्तर में गुणात्मक वृद्धि नहीं हो रही है।

(6) गरीब परिवारों के बच्चे जो किसी कारण वश बीच में पढ़ाई छोड़ देते हैं उनके लिए बाद में पढ़ाई शुरू करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

(7) अनौपचारिक आधार पर भी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

1901 से 2011 तक भारत की साक्षरता दर–

वर्ष	साक्षरता का प्रतिशत
1901	5.35 प्रतिशत
1911	5.92 प्रतिशत
1921	7.16 प्रतिशत
1931	9.50 प्रतिशत
1341	16.10 प्रतिशत
1951	18.33 प्रतिशत
1961	28.30 प्रतिशत
1971	34.45 प्रतिशत
1981	43.50 प्रतिशत
1991	52.21 प्रतिशत
2001	64.38 प्रतिशत
2011	74.00 प्रतिशत

12.5 औपचारिक शिक्षा का समाजीकरण की प्रक्रिया में

(1) जागरूकता का बोध – शिक्षा व्यक्ति को जागरूक बनाती हैं। जागरूकता ही सामाजिकता की पहचान है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि शिक्षा ही व्यक्ति को मनुष्य बनाती है। और उसमें समाजोचित गुणों का विकास करती है।

(2) व्यक्ति की बदलती परिस्थितियों के अनुरूप बनना – औपचारिक शिक्षा लोगों को इस योग्य बनाती है कि वे अपने सम्पूर्ण पर्यावरण से अनुकूलन कर सके। समाज में सफलता के लिए भी पर्यावरण से अनुकूलन आवश्यक है। आधुनिक शिक्षा द्वारा लोगों को प्रेरित कि या जाता है कि वे अपने हाव–भाव तथा विचारों को इस प्रकार से बदलें जिससे कि एक आधुनिक समाज की धारणा सम्भव हो सके। बोटोमोर ने भी लिखा है कि आधुनिक शिक्षा संचारित वैज्ञानिक ज्ञान में परिवर्तन की आशा है साथ ही व्यक्तिओं को स्थिर के बजाय एक परिवर्तित विश्व के लिए तैयार करने में शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है।

(3) बच्चों (नयी पीढ़ी) को जीवन के लिए तैयार करना – शिक्षा के द्वारा ही बच्चों को समाज के योग्य बनाया जाता है। शिक्षा के कारण ही नयी पीढ़ी के लोग अपने भावी जीवन के लिए तैयार हो पातें हैं। दुर्खीम ने लिखा है कि शिक्षा बच्चों की भाषा, धर्म, नैतिकता तथा सामाजिक प्रथाओं के माध्यम से सामान्य सामाजिक परम्पराओं का प्रसारण कर सम्पूर्ण समाज में जीवन बिताने योग्य बनाती है। विद्याथियों को राष्ट्रीय मूल्यों की शिक्षा शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा ही दी जाती है।

(4) सामाजिक व्यवहार प्रतिमान से अनुरूपता – शैक्षणिक संस्थाओं के माध्यम से ही एक विद्यार्थी उचित रहन–सहन, बोल–चाल तथा तौर–तरीकों को अपनाता है। बोटोमोर ने भी लिखा है कि शिक्षा में स्वतन्त्र रूप से आचरण के योगदान में जो योगदान दिया है वह है शिशु का प्रारम्भिक समाजीकरण उचित व्यक्तित्व के निर्धारण में भी शिक्षा का अधिकतम योगदान है।

(5) संस्कृति का संचारण – शिक्षा के द्वारा सांस्कृतिक तत्वों का संचारण किया जाता है। शिक्षा का सम्बन्ध जहॉ एक ओर व्यक्ति को परम्पराओं की जानकारी कराना है वहीं पर दूसरी ओर इसके द्वारा व्यक्ति को परिवर्तनमुखी बनाना है।

(6) सामाजिक संतुलन – शिक्षा के द्वारा व्यक्ति उन व्यवहारों को अपना पाता है जो स्थिर और गतिशील दोनों समाजों के लिए आवश्यक है। कार्ल मैनहीम ने लिखा है कि समाज की संरचना सदैव परिवर्तन के प्रक्रम मे ही नहीं अपितु बहुत कुछ संतुलन पर भी आधारित रहती है।

(7) सहयोग की भावना का विकास – शिक्षा के द्वारा लोगों में सहयोगात्मक भावना का विकास किया जाता है जो सामाजिक संगठन के स्थायित्व के लिए आवश्यक है। शिक्षा का क्षेत्र जैसे–जैसे बढ़ता जा रहा है वैसे–वैसे विद्यार्थियों में पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ रही है।

(8) ज्ञान का विस्तार – शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति अपने तार्किक शक्ति को बढ़ाता है। तार्किक ज्ञान ही समाज और व्यक्ति के रूपान्तरण और दोनों के वास्तविक विकास के लिए आवश्यक है।

(9) आर्थिक पहलू का विकास – तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा व्यक्ति के सुख–समृद्धि में प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। प्राथमिक स्तर पर बेसिक शिक्षा

का भी यही उद्देश्य तय किया गया है। शैक्षणिक संस्थाओं में चल रहे विभिन्न प्रकार के अनुसंधान कार्य आर्थिक पहलू के विकास में सहायक हैं। शिक्षा किसी भी राष्ट्र का आधारभूत उद्योग कहा जाता है। प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि के लिए शिक्षा का विकास आवश्यक है। शिक्षा व्यवसायिक निपुणता बढ़ाकर और सामाजिक सांस्कृतिक ढ़ाचे में सुधार लाकर समाज के आर्थिक पहलू को सुदृढ़ कर सकती है। रूस का आर्थिक विकास प्रौद्योगिकीय शिक्षा का परिणाम है। लेविस ने अपनी पुस्तक 'थियरी आफ इकनॉमिक ग्रोथ' में लिखा है कि आर्थिक विकास की अवधि में सभी स्तरों पर शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएं बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक शिक्षा के कुछ भाग जैसे विज्ञान, वाणिज्य, प्रौद्योगिकीय और चिकित्सा आदि ने उस कुशलता मे वृद्धि किया है जो आधुनिक समाज के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

12.6 सारांश

भारतीय में सामाजिक व्यवस्था में एकीकरण स्थापित करने व समाज की प्रगति के लिए औपचारिक शिक्षा की आवश्यकता महशूस की गयी जिसके वर्तमान स्वरूप का आरम्भ अंग्रेजों द्वारा हुआ। उद्देश्य था औपचारिक शिक्षा के माध्यम से अधिकांश लोग शिक्षित होंगे और उनमें नयी इच्छाएं और अविष्कार की प्रवृतियॉ अवतरित होंगी जो नये साधनों के विकास के साथ सामाजिक परिवर्तन में योगदान करेंगी। शिक्षा का सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका है। दुर्खीम ने शिक्षा को नैतिक दबाव कहा है जिसे पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी पर डालती है। औपचारिक शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति सम्पूर्ण पर्यावरण से अनुकूल न करने की सफल कोशिश करता है। औपचारिक शिक्षा का प्रारम्भ अंग्रेजों द्वारा होने के कारण पहले इसका माध्यम अंग्रेजी रखा गया और सरकारी व्यय भी इसी पर किया गया। अंग्रेजी माध्यम होने से हिन्दी भाषी भारत देश में साक्षरता की दर नहीं बढ़ पायी। आधुनिक शिक्षा ने साक्षरता में वृद्धि को प्रोत्साहन दिया है परन्तु यहॉ की शिक्षा व्यवस्था परीक्षा प्रणाली से नियंत्रित होती है जो ज्ञानवर्धन में बाधक है। आधुनिक शिक्षा ने सामाजिक विकास में निम्नलिखित योगदान दिया है। (1) वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकीय आत्मनिर्भरता (2) उद्योग व कृषि के संचालन का प्रशिक्षण (3) मूल्यों व मनोवृतियों में परिवर्तन (4) सामाजिक समस्या समाधान (5) राजनैतिक व प्रशासनिक संस्थाओं की व्यवस्था। आधुनिक शिक्षा पद्धति में कुछ कमियों को दूर करने के लिए सीखने पर बल, गरीबों की शिक्षा, विद्यार्थियों की संख्या पर ध्यान, अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है।

समाजीकरण की प्रक्रिया में औपचारिक शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है जिससे समाज में जागरूकता आती है। शिक्षा व्यक्ति के बदलती परिस्थिति के अनुरूप बदलने में मदद करती है जिससे वह नया जीवन जी सके व उचित व्यक्तित्व का निर्माण कर सके। शिक्षा के माध्यम से संस्कृति का संचारण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता है। ज्ञान का विस्तार व सहयोग की भावना का विकास शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। आधुनिक औपचारिक शिक्षा ने विज्ञान, वाणिज्य, प्रौद्योगिकीय और चिकित्सा आदि ने नये सामाजिक कुशलता को जन्म दिया। शिक्षा ने रोजगार के साधन के रूप में आर्थिक पहलू का विकास भी किया है जिससे समाज में स्थायित्व तथा निरंतरता बनी रहे।

12.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- के0 के0 मिश्र "विकास का समाजशास्त्र" भवदीय प्रकाशन, अयोध्या
- टी0 वी0 बोटोमोर "सोसियोलोजी"
- किंवलयंग – "ए हैण्डबुक आफ सोशल साईकोलोजी"
- जानसन – "सोसियोलोजी"

12.8 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 औपचारिक शिक्षा का समाजीकरण में महत्व की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2 औपचारिक शिक्षा क्या है? इसका स्वरूप कैसा होना चाहिए, स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3 औपचारिक शिक्षा किस प्रकार सामाजिक विकास में योगदान दे सकता है? इसकी कमियों सहित व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 औपचारिक शिक्षा की कौन–कौन सी कमियॉ हैं? जिसके निराकरण से शिक्षा को सही दशा और दिशा दी जा सकती है।

प्रश्न 2 औपचारिक शिक्षा के दोषों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3 भारत की औपचारिक शिक्षा का राजनीतिकरण हो गया है – व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 भारत की औपचारिक शिक्षा पर प्रभाव है।

(क) इंग्लैन्ड का (ख) अमेरिका का

(ग) फ्रांस का (घ) किसी का नहीं

प्रश्न 2 औपचारिक शिक्षा की ऐजेन्सी हैं।

(क) स्कूल (ख) मदरसा

(ग) संस्कृत पाठशाला (घ) सभी

प्रश्न 3 औपचारिक शिक्षा में सर्वाधिक योगदान है।

(क) राज्य विश्वविद्यालयों का (ख) केन्द्रीय विश्वविद्यालयों का

(ग) मुक्त विश्वविद्यालयों का (घ) विदेशी विश्वविद्यालयों का

उत्तर– 1– (क) 2– (घ) 3– (ग)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टंण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-101
समाज का अध्ययन

खण्ड – 4

आर्थिक व्यवस्था

इकाई–13	अर्थव्यवस्था की प्रकृति एवं प्रकार	169–180
इकाई–14	कृषि अर्थव्यवस्था	181–192
इकाई–15	औद्योगिक अर्थव्यवस्था	193–206
इकाई–16	उत्तर औद्योगिक सेवा अर्थव्यवस्था	207–214

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGSY- 101

परामर्श समिति

प्रो० के० एन० सिंह (अध्यक्ष) — **कुलपति,** उ0 प्र0 राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

डॉ० ए० के० गुप्ता — **कुलसचिव,** उ0 प्र0 राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो० के० के० मिश्र — प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग दी0 द0 उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर–273001

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

1. **डॉ० एम० एन० सिंह** – पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
2. **डॉ० इति तिवारी** – पूर्व एसो० प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
3. **श्री रमेशचन्द्र यादव** – शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

UGSY-101(N) – समाज का अध्ययन

1. **डॉ० संगीता पान्डेय,** विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, दी0 द0 उ0 गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
2. **श्री रमेशचन्द्र यादव,** शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
3. **डॉ० इति तिवारी,** पूर्व एसो० प्रोफेसर समाजशास्त्र, उ०प्र० राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
4. **डॉ० इन्द्रजीत मिश्र,** रीडर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र, भगवान महावीर पी. जी. कालेज, फाजिलनगर कुशीनगर।

2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

ISBN- 978&93&83328&38&3

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आमड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड–4 परिचय आर्थिक व्यवस्था

इस खण्ड में अर्थव्यवस्था से संबंधित सभी पहलू हैं–

इकाई–13 में उसके प्रकृति तथा प्रकारों का उल्लेख है। अर्थ व्यवस्था से तात्पर्य उन आर्थिक गतिविधियों से है जिससे मानव की सभी मूलभूत सुविधाएँ पूरी की जा सके। भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति विकासशील अर्थव्यवस्था की विशेषताओं को व्यक्त करती है। अर्थव्यवस्था के प्रकार में शिकारी अर्थव्यवस्था खाद्य प्रदार्थ एकत्रीकरण; झूमखेती; स्थायी खेती; प्रौद्योगिक विकास/कारखाना व्यवस्था तथा उत्तर औद्योगिक सेवा व्यवस्था का उललेख है।

इकाई–14 में कृषि अर्थव्यवस्था का विस्तृत उल्लेख है। कृषि के परम्परागत स्वरूप से आधुनिक कृषि स्वरूप का उल्लेख किया गया है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम; हरित क्रान्ति तथा सरकार द्वारा किये जा रहे प्रयत्नों का उल्लेख है।

इकाई–15 में औद्योगिक अर्थव्यवस्था का उल्लेख है। औद्योगिक व्यवस्था में हस्तकला से लेकर कारखाना व्यवस्था का उल्लेख हैं कुटीर, लघु तथा बड़े और मूलभूत उद्योगों का विवेचन किया गया है।

इकाई–16 में उत्तर औद्योगिक सेवा अर्थव्यवस्था का विवेचन है। भारत की सेवा अर्थव्यवस्था में तीव्र प्रगति के कारणों का उल्लेख है। सूचना प्रौद्योगिकी के विवेचना के साथ–साथ उसके प्रभावों का उल्लेख किया गया है।

इकाई–13

अर्थव्यवस्था की प्रकृति एवं प्रकार

<u>इकाई की रूपरेखा–</u>

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 अर्थव्यवस्था का अर्थ एवं परिभाषा

13.2.1 अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारक

13.3 अर्थव्यवस्था की प्रकृति

13.4 अर्थव्यवस्था के प्रकार

13.5 सारांश

13.6 परीक्षापयोगी प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे–

- अर्थव्यवस्था का अर्थ एवं परिभाषा।
- अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारक।
- अर्थव्यवस्था के प्रकार।

13.1 प्रस्तावना

समाज के सुचारू रूप से चलने के लिए उसके विभिन्न पहलुओं में सामंजस्य आवश्यक हैं। धार्मिक, राजनैतिक, वैधानिक, प्रौद्योगिकीय, सांस्कृतिक आदि पहलुओं का समाज के लिए महत्व है। परन्तु इन सब में आर्थिक पहलू का विशेष महत्व है। सम्भवतः इसीलिए प्राचीन काल से प्रचलित पुरूषार्थ सिद्धान्त में अर्थ को धर्म के बाद स्थान प्राप्त है। अर्थ या आर्थिक व्यवस्था की सुदृढ़ता सामाजिक विकास की रीढ़ है। आर्थिक परिवेश व्यक्ति के व्यवहार तथा जीवन की समस्त गतिविधियों को प्रभावित करता हैं। कार्ल मार्क्स का आर्थिक निर्धारणवाद का सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति उसके सामाजिक संबंधों को तय करती है। उसी की समाज में प्रतिष्ठा होती है जो धनी है। पूँजीपति/उद्योगपति सभी समाजों में सामाजिक नीति को प्रभावित करते हैं। विश्व समाज में देखने को मिलता है कि धनी देश दूसरे देशों को प्रभावित करते हैं। आज विश्व में अमेरिका की महत्ता का एकमात्र कारण उसकी आर्थिक स्थिति है।

13.2 अर्थव्यवस्था – अर्थ एवं परिभाषा

मानव की भोजन संबंधी, वस्त्र संबंधी, आवास संबंधी तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आर्थिक गतिविधियों को अर्थव्यवस्था से व्यक्त किया जाता है।

सभ्यता के विकास के साथ–साथ मानव आवश्यकताऍ भी बढ़ रहीं हैं। उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अर्थव्यवस्था की मजबूती आवश्यक है। आदिम समाज की तुलना में आधुनिक समाज में सम्भवतः इसलिए आर्थिक गतिविधियॉ तीव्र हुई हैं।

अर्थव्यवस्था का संबंध आर्थिक संसाधनों के विदोहन से भी है। कच्चे माल से उपयोग हेतु वस्तुओं का निर्माण अर्थव्यवस्था का प्रमुख भाग है।

अर्थव्यवस्था में पृथ्वी से खनिजों का शोषण, कच्चे माल से उपयोग हेतु वस्तुओं का उत्पादन, उत्पादित वस्तुओं का वितरण, उपभोग तथा विनिमय संबंधी गतिविधियॉ सम्मिलित होतीं हैं।

अर्थव्यवस्था का संबंध आर्थिक क्रियाओं के कहॉ, क्यों, कब और कैसे प्रश्नों के उत्तर से है। आर्थिक क्रिया कहॉ होगी, कब होगी, क्यों होगी तथा कैसे होगी आदि का उत्तर अर्थव्यवस्था में निहित हैं।

पृथ्वी पर प्राकृतिक संसाधनों का कहॉ, क्यों, कैसे ओर कब उपयोग करना है आदि प्रश्नों का उत्तर अर्थव्यवस्था से जुड़ा है।

विश्व के भिन्न–भिन्न समाजों में मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीविकोपार्जन के विभिन्न साधनों जैसे जानवरों का शिकार करना, मछली और अन्य पानी में रहने वाले जन्तुओं को पकड़ना, लकड़ी काटना, घास–फूस काटना, खेती करना, भोज्य पदार्थ इकट्ठा करना, जमीन के अन्दर खाने खोदना और उपलब्ध कच्चे माल को बाहर निकालना, उद्योग धन्धे चलाना, व्यापार करना, नौकरी करना आदि आर्थिक गतिविधियों को करता रहा है। मनुष्य के आर्थिक गतिविधियों पर भूमि की बनावट, मिट्टी, जलवायु, खनिज संसाधन, भौगोलिक स्थिति, यातायात की सुविधा, जनसंख्या का आकार एवं रचना आदि का प्रभाव पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्थिक गतिविधियों पर सम्पूर्ण पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।

इस धरती पर सबसे विकसित और श्रेष्ठ बहुकोषीय जीवधारी मनुष्य ही है। मानव अपने रहन–सहन, भोजन, वस्त्र, आवास आदि के लिए निरंतर आर्थिक गतिविधियॉ करता रहता है। वह केवल अपने आस्तित्व के लिए प्रयास ही नहीं करता वरन रहन–सहन के स्तर को निरंतर ऊॅचा उठाने का प्रयास करता है। अविकसित राष्ट्रों में जहॉ मानव की गतिविधियॉ अस्तित्व के लिए केन्द्रित होतीं हैं वहीं विकसित राष्ट्रों में मानव की गतिविधियॉ रहन–सहन की श्रेष्ठता के लिए होती हैं। रहन–सहन के स्तर को उॅचा उठाने के लिए उसे अधिक आर्थिक संसाधनों की आवश्यकता पड़ती है। वह प्राकृतिक संसाधनों का अधिक से अधिक शोषण करता है। आदिम समाज में लोगों की सीमित आवश्यकताऍ थीं। रोटी, कपड़ा और मकान की प्राप्ति जीवन का उददे्श्य होता था। आधुनिक समय में मूलभूत आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक माना जाता है ताकि मानव प्रजाति प्रगति कर सके।

असंभव को संभव बनाने के लिए अधिक आर्थिक संसाधन चाहिए ताकि वह अपने उपभोग की सभी वस्तुएँ प्राप्त कर सकें। ऐसी सेवायें और वस्तुयें जो बाहर से ही प्राप्त हो सकती है उसी के लिए वाणिज्य, व्यापार और उद्योग धन्धों संबंधी अनेक गतिविधियॉ प्रारम्भ होती है। उद्योगों के लिए कच्चे माल तथा जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उसकी प्राप्ति के लिए ही परिवहन यातायात तथा संदेशवाहन के विभिन्न साधनों का विकास होता है।

13.2.1 अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारक

1. **प्राकृतिक संसाधन** – इसके अन्तर्गत प्रदेश की स्थिति, उसकी जलवायु संबंधी विशेषताएँ, भूमि का स्वरूप तथा वहॉ की बस्तियॉ, आने जाने का मार्ग, कल कारखाने आदि के लिए उपलब्ध कच्चे माल, वनस्पति, पशु संसाधन, जलीय संसाधन, खनिज संसाधनों का वितरण, विदोहन तथा उपयोग।

2. **मानवीय संसाधन** – जनसंख्या, उसकी रचना तथा आकार अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है। जनसंख्या शक्ति (मैनपावर) के रूप में तब होगी जब इसकी रचना आर्थिक गतिविधियों के लिए उपयुक्त होगी अर्थात जनसंख्या का अधिकांश भाग आर्थिक गतिविधियों में ठीक से भाग ले सके।

   आर्थिक व्यवस्था के आधार पर जनसंख्या को तीन भागों – किशोर, युवा तथा वृद्ध में बॉटा जाता है। किशोर 18 वर्ष से कम; युवा 18 वर्ष से अधिक तथा 60 वर्ष से कम; वृद्ध 60 वर्ष से ऊपर। आर्थिक उत्पादन क्रिया में युवा वर्ग की भूमिका सकारात्मक होती है। यदि किसी समाज की जनसंख्या का अधिक भाग युवा लोगों का है तो वहॉ की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होगी।

3. **आर्थिक विकास की इच्छा शक्ति** – व्यक्ति का व्यवहार उसकी इच्छा/मनोवृति पर आश्रित होता है। यदि आर्थिक वृद्धि की इच्छा लोगों में है तो अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होगी।

4. **वैयक्तिक प्रेरणा – अर्जन की आवश्यकता –**

मानव की आधारभूत जैविक आवश्यकताएँ

मानव की तीन आधारभूत जैविक आवश्यकताएँ हैं – (1) भोजन (2) वस्त्र एवं (3) आवास। इन्ही आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अर्थ/धन की आवश्यकता पड़ती है।

वायु और जल जो जीवन का आधार है वह मनुष्य को प्रकृति से निःशुल्क प्राप्त हो जाता है।

आर्थिक क्रियाओं से तात्पर्य मनुष्य के उन कार्यों से है जिनसे विभिन्न वस्तुओं के मूल्य या स्वरूप में वृद्धि होती है तथा उनमें मानव की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता बढ़ जाती है। वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि उनके स्वरूप परिवर्तन (फार्म) स्थान परिवर्तन (प्लेस) और अधिकार परिवर्तन (ओनरशिप) से होती है।

मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं के श्रम और दूसरों के श्रम पर आश्रित है। इसी श्रम के कारण हम लोगों की खेती वारी सुरक्षित है।

13.3 अर्थव्यवस्था की प्रकृति

भारत की अर्थव्यवस्था को एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था कहा जाता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिर्पोट में कहा गया है कि वह अर्थव्यवस्था जिसमें लोगों की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा पश्चिमी यूरोप की देशों की तुलना में कम है उसे अल्प विकसित अर्थव्यवस्था कहा जायेगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति अग्रलिखित है–

1. **वास्तविक आय का कम होना** – वास्तविक प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। अमेरिका की तुलना में यह 45 गुना कम हैं। क्रय शक्ति के आधार पर यहॉ प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी. एन. पी.) लगभग 2960 डालर है जबकि अमेरिका में यह 46,970 डालर है। यह ऑकड़ा दिखाता है कि भारत की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है। अल्प विकसित देशों में विश्व की कुल जनसंख्या का 70 प्रतिशत निवास करता है जबकि आय विश्व की कुल आय का मात्र 17 प्रतिशत है। यह दर्शाता है कि आर्थिक स्थिति कमजोर है। प्रति व्यक्ति आय के कम होने का एक कारण यह है कि राष्ट्रीय आय कम है वहीं जनसंख्या का आकार बहुत बड़ा है। इस स्थिति में प्रति व्यक्ति आय का कम होना स्वभाविक है।

2. **आय का असमान वितरण** – भारतवर्ष की जनसंख्या 3 भागों अर्थात धनी, मध्यमवर्गीय और निर्धन मे विभक्त है। निर्धन वर्ग के आखिरी 10 प्रतिशत लोगों का सकल घरेलू व्यय में हिस्सा जहॉ मात्र 4 प्रतिशत है वहीं सबसे धनी 10 प्रतिशत का हिस्सा 31 प्रतिशत है। यह दर्शित करता है कि आय का वितरण असमान है। एक अध्ययन में पाया गया कि भारत के 20 प्रतिशत धनी लोगों के पास ही 60 प्रतिशत राष्ट्रीय आय का हिस्सा हैं। सबसे धनी 10 प्रतिशत और सबसे गरीब 10 प्रतिशत के व्यय का अनुपात 10:1 का है।

3. **गरीबी** – 12वीं पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य प्राप्ति के उद्‌देश्य के अन्तर्गत सरकारी ऑकड़े बताते है कि अभी भी 40 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे गुजर बसर करते हैं। अनेक विकास और कल्याणकारी योजनाओं के चलने के बाद भी भारत की गरीबी का अन्त नहीं हो सका है। गरीबी समाज की सबसे बड़ी सामाजिक समस्या है। मृत्यु सबसे भयावह सत्य है परन्तु गरीबी उससे भी भयावह है क्योंकि वह मृत्यु को जन्म देती है।

4. **कृषि की प्रधानता** – भारत कृषि प्रधान देश है। आज भी 70 प्रतिशत जनता गॉवों में रहती है तथा उसका मुख्य पेशा कृषि है। कृषि कार्य में दो प्रकार के लोग लगे हैं। एक वे जिनकी कृषि योग्य भूमि है और वे स्वयं खेती करते हैं। दूसरे वे जो खेती करते हैं लेकिन उनकी स्वयं की कृषि योग्य भूमि नहीं है। जनसंख्या निरंतर बढ़ रही है और कृषि योग्य भूमि का जोत कहीं–कहीं उतना ही बना हुआ है और कहीं–कहीं कृषि जोत का आकार घट रहा है। कृषि भूमि पर आवास के लिए मकान बन रहे हैं और कहीं–कहीं कल कारखाने लग रहे हैं। दूसरी ओर कृषि कार्य में लगे लोगों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। विचारकों का मत है कि कृषि कार्य में भी यहॉ के लोग पिछड़े हुए है।

5. कृषि संबंधी नीति का त्रुटिपूर्ण होना – कृषि कार्य में अभी भी पुराने कृषि ढ़ंग का ही प्रयोग हो रहा है। नयी–नयी तकनीक का प्रयोग सभी किसान नहीं कर पा रहे हैं। बहुतों को जानकारी नहीं है। जिन्हें जानकारी है उनके पास धन की कमी है जिसके कारण आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग किसान नहीं कर पा रहे हैं। नोवेल पुरस्कार विजेता गुनार मिरडल ने कहा है कि "आवश्यकता इस बात की है कि कृषि कार्यों को पूरी तरह सुधारा जाय।" इसके लिए विभिन्न सुधारात्मक परिवर्तनों को किया जाना चाहिए। कृषि नीति ऐसी हो जिससे भूमि तथा भूमि संबंधित लोगों की संख्या में विषमता न हो।

6. औद्योगीकरण की कमी – अविकसित या विकासशील समाज की एक नकारात्मक विशेषता यहॉ औद्योगीकरण की कमी है। कृत्रिम शक्ति चालित मशीनों के कम प्रयोग के कारण पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन बहुत कम हो पाता है। अधिकतर उपभोग संबंधी वस्तुऍ ही उत्पादित होतीं हैं। जब तक पूँजीगत वस्तुओं का अधिक उत्पादन नहीं होता तब तक आर्थिक वृद्धि संभव नहीं।

7. निर्यात पर निर्भरता – अविकसित/विकासशील देशों की एक समस्या यह है कि वे अपने कच्चे माल का निर्यात करते रहते हैं और उस कच्चे माल को वे निर्मित वस्तुओं में बदलने की क्षमता नहीं रखते। इसलिए उन्हे पूरा लाभ नहीं मिल पाता। अंग्रेजी शासन काल में कपास/रूई का निर्यात यहॉ के किसान इंग्लैण्ड को करते थे उन्हें मामूली लाभ मिलता था। उसी कपास से अंग्रेज कपड़ा बनाकर भारत को निर्यात करके बहुत अधिक धन कमाते थे।

8. बैंकिग सुविधाओं का अभाव – अविकसित समाजों (भारत में भी) में लोग बैंकों का प्रयोग कम करते हैं। अभी भी उत्तरी पूर्वी भारत के प्रदेशों में बैंकों का प्रयोग लोग कम करते हैं। यहॉ 30 प्रतिशत लोग ही बैंक का प्रयोग लेन देन में करते हैं।

9. मौसमी बेरोजगारी – कृषि कार्य में कुछ महीनों में ही फसल बोआई और फसल कटाई के समय अकुशल श्रमिकों को रोजगार मिल पाता है। बाकी महीनों में उन्हे रोजगार नहीं मिलता। इस मौसमी बेरोजगारी का अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

10. जनसंख्या का आधिक्य – भारत वर्ष में जनसंख्या अरब की संख्या पार कर गयी है। कृषि कार्य के बाहर लोगों को रोजगार का पर्याप्त अवसर नहीं हैं। जनाधिक्य के कारण यहॉ कोई भी योजना/कार्यक्रम लोगों की आवश्यकतानुसार पूरी नहीं पड़ती। जनसंख्या नियोजन के कार्यक्रम जो औपचारिक आधार पर 1952 ई. से चल रहें है। उसके पश्चात भी यहॉ जनसंख्या निरंतर बढ़ रही है। जनसंख्या की अधिकता यहॉ की कमजोर आर्थिक व्यवस्था के लिए जिम्मेदार है।

जनसंख्या का आकार जहॉ भारत में बड़ा है वहीं इसकी रचना भी त्रृटिपूर्ण है। आर्थिक उत्पादन क्रिया में भाग लेने वालों की संख्या कुल जनसंख्या में कम है फलस्वरूप आर्थिक कमजोरी है।

11. जन्म और मृत्युदर का ऊँचा होना – भारत में जन्म और मृत्यु दर दोनों अधिक हैं। जन्म के समय ही कुछ बच्चों का देहान्त हो जाता है। परिवार नियोजन के विधियों के प्रचार–प्रसार के बाद भी जन्मदर अधिक है। प्रति वर्ष आस्ट्रेलिया जितनी जनसंख्या यहॉ की जनसंख्या में जुड़ जाती है।

12. औसत आयु की कमी – विकसित राष्ट्रों में औसत आयु जहॉ 75 वर्ष से अधिक है वहीं भारत में 12 पंचवर्षीय योजनाओं के बाद भी औसत जीवन की अवधि 60 वर्ष है।

13. कम साक्षरता – भारत में आज भी 40 प्रतिशत लोग निरक्षर हैं। यहाँ निरक्षरों की संख्या अमेरिका की कुल आबादी से अधिक है। शिक्षा सामाजिक विकास का एक प्रमुख कारक है। इसके अभाव में यहाँ की अर्थव्यवस्था नहीं सुधर सकती।

14. परम्परा, जनरीति, रूढ़ि तथा धार्मिक अंधविश्वासों का प्रभाव – भारतवर्ष धर्म प्रधान देश भी है। यहाँ धर्म की व्याख्या बदल गयी है । धर्म का अर्थ जहाँ आदर्श व्यवहार से है वहीं आज हिन्दू धर्म को "रिलिजन" मानकर लोग धार्मिक अंधविश्वास में उलझते दिखायी पड़ते हैं। धार्मिक उन्माद से सांप्रदायिक दंगे भड़कते हैं। धन और जन की हानि होती है। धार्मिक अन्धविश्वास अनेक परिवारों को बर्बाद कर चुके हैं। परम्परा, रूढ़ि और जनरीति का चारों ओर प्रभाव दिखायी पड़ता है। यहाँ के लोग धन, दौलत छोड़ सकते हैं लेकिन प्रथा परम्परा को छोड़ने के लिए तत्पर नहीं हैं। इसी भावना के कारण यहाँ तार्किक क्रिया कलाप अधिकांशतया संभव नहीं हो पाता।

15. भाग्य पर अधिक विश्वास – यहाँ की अर्थव्यवस्था पिछड़ी होने का एक कारण भाग्यवादिता भी है। लोग भाग्य में विश्वास रखते हैं इसलिए पुरूषार्थ नहीं करते। कर्म प्रधान व्यवहार ही अर्थव्यवस्था को सशक्त बना सकता है जिसका यहाँ के लोगों में अभाव है।

16. स्त्रियों की निम्न प्रस्थिति – भारतवर्ष की जहाँ कुल जनसंख्या की आधी स्त्रियाँ हैं वहाँ स्त्रियों की प्रस्थिति संतोषजनक नहीं हैं। स्त्रियाँ जीवन के समस्त गतिविधियों में पुरूषों के साथ समान रूप से भाग नहीं ले पातीं। जब समाज की आधी जनसंख्या उत्पादन कार्य में समान रूप से भाग नहीं लेगी तब आर्थिक विकास कैसे संभव होगा? भारत के कमजोर आर्थिक विकास का एक कारण यह भी है।

17. प्रजातान्त्रिक अर्थव्यवस्था – भारत के प्रजातन्त्र में हर कोई केवल स्वतन्त्र नहीं है अपितु स्वच्छंद भी हैं। इसी स्वच्छंदता के कारण यहाँ लोग मनमाना अनार्थिक व्यवहार करने लगे हैं जिससे अर्थव्यवस्था पिछड़ती जा रही है। राजनैतिक लोगों की अपराधिक कृत्यों में भागीदारी; भ्रष्टाचार की परिपाटी अर्थव्यवस्था को गर्त में ले जा रही है।

18. निर्यात की अपेक्षा आयात की अधिकता – यहाँ से जितनी वस्तुओं का निर्यात होता है उससे कई गुना अधिक वस्तुओं का आयात किया जाता है। इस आयात निर्यात के अधिक अन्तराल के कारण भी यहाँ की अर्थव्यवस्था कमजोर है।

19. प्रौद्योगिकीय विकास की कमी – भारतवर्ष में प्रौद्योगिकी का विकास उच्च कोटि का नहीं हो सका है। उच्च प्रौद्योगिकी की कमी के कारण यहाँ का आर्थिक विकास तेज नहीं हो पा रहा है। बड़ी–बड़ी मशीनें अब भी बाहर से खरीदी जातीं हैं जिससे विदेशी मुद्रा खर्च होती हैं।

20. परम्परागत उत्पादन विधि – यहाँ वस्तुओं का उत्पादन अब भी परम्परागत ढ़ंग से होता है। परम्परागत उत्पादन ढ़ंग के कारण उत्पादन की लागत अधिक हो जाती है और लाभ कम मिल पाता है। परम्परागत उत्पादन विधि के कारण यहाँ की अर्थव्यवस्था कमजोर है।

21. यातायात तथा परिवहन की असंतोषजनक व्यवस्था – विकास के लिए परिवहन तथा यातायात के साधनों में निरंतर वृद्धि आवश्यक है। सड़कों की कमी, रेल की

असंतोषजनक व्यवस्था, संचार के अविकसित साधन आदि के कारण अर्थव्यवस्था पिछड़ती जा रही है।

22. प्राकृतिक साधनों का कम दोहन – प्रौद्योगिकी के कम विकास के कारण यहॉ प्राकृतिक संसाधनो का दोहन पूरा नहीं हो पाता। फलस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों का पूरा योगदान आर्थिक व्यवस्था के सुधार में नहीं हो पाता।

23. लोक कल्याणकारी उद्योगपतियों की कमी – निर्धन देश होने के कारण यहॉ के उद्योगपति भी लालची हैं उनमें लोक कल्याण की भावना नही ंके बराबर है। जब तक जोखिम उठाने वाले उद्योगपतियों की संख्या यहॉ नहीं बढ़ेगी तब तक आर्थिक समृद्धता संभव नहीं। वेन्जिमिन हिंगिन ने अपनी पुस्तक "इकोनामिक डेवलेपमेन्ट" में निम्न अर्थव्यवस्था के अग्रलिखित कारकों का उल्लेख किया है–

1. आर्थिक–

- जनसंख्या का अधिक भाग 70–90 प्रतिशत कृषि कायों में संलग्न
- अति जनसंख्या।
- कृषि के अतिरिक्त रोजगार साधनों की कमी।
- निर्वाह स्तर की आय।
- नगण्य बचत।
- आय के प्रमुख भाग का भोजन तथा आवश्यकताओं पर खर्च।
- बाजार की खराब व्यवस्था।
- मकान की अपर्याप्तता।
- कृषि संबंधी उपकरणों का पुराना होना।
- ऋण ग्रस्तता।

2. जनसंख्यात्मक–

- उच्च जन्मदर।
- उच्च मृत्यु दर तथा निम्न औसत आयु।
- अपर्याप्त पोषक तत्व।
- ग्रामीण जनसंख्या का आधिक्य।

3. सांस्कृतिक तथा राजनैतिक–

- अपर्याप्त शिक्षा की व्यवस्था।
- अधिक निरक्षरता।
- शिशु श्रमिकों की समस्या।
- स्त्रियों की निम्न प्रस्थिति।
- सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधनों की प्रधानता।

4. प्रौद्योगिकीय –

- प्रति एकड़ कम पैदावार।
- कारीगरों एवं तकनीशियों के प्रशिक्षण का अभाव।
- परिवहन तथा यातायात के अविकसित साधन।
- अपरिपक्व प्रौद्योगिकी।

13.4 अर्थव्यवस्था के प्रकार

स्पेंसर ने अपने उद्‌विकसीय सिद्धान्त में स्पष्ट किया है समाज सरल से जटिल स्वरूप को धारण करता है। उद्‌विकासीय सिद्धान्त के अन्तर्गत समाज को सरल व जटिल में विभक्त किया जाता है। दोनों प्रकार के समाजों में अलग–अलग प्रकार की अर्थव्यवस्था पायी जाती है।

सरल समाज में अर्थव्यवस्था को अग्रलिखित चार्ट से व्यक्त किया जा सकता है।

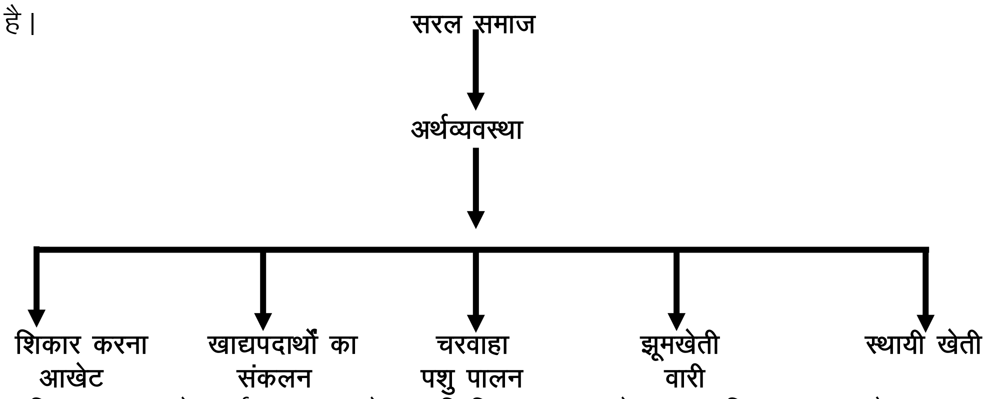

जटिल समाज में अर्थव्यवस्था को अग्रलिखित प्रकार से व्यक्त किया जाता है।

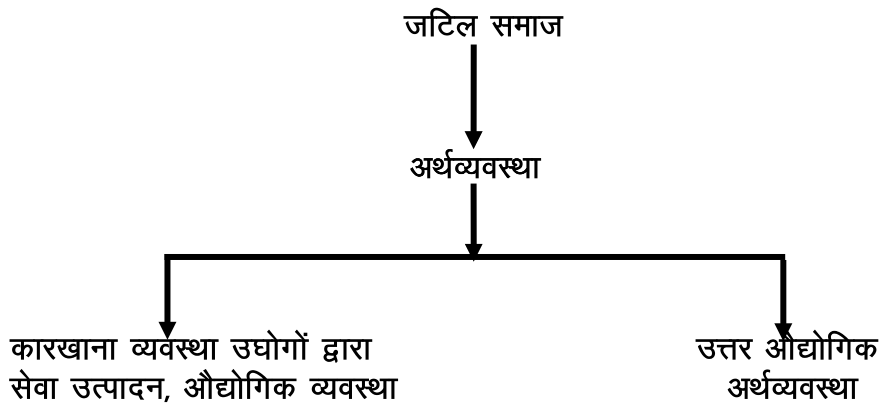

सरल तथा जटिल समाजों को देखते हुए अर्थव्यवस्था को अग्रलिखित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

1. शिकार करना (आखेट)

2. खाद्य पदार्थों का संकलन।
3. चरवाहा – पशुपालन
4. झूमखेती
5. स्थायी खेती
6. औद्योगिक व्यवस्था/कारखाना व्यवस्था
7. औद्योगिक सेवा अर्थव्यवस्था।

1. शिकार करना – आदिम व्यक्ति जानवरों का शिकार कर अपना भरण पोषण करता था। शिकारी दो प्रकार के औजार रखते थे। एक वे जिनसे वे दूर के शिकारों को प्राप्त कर सकते हैं जैसे तीर कमान, वूमरेंग फेकने वाली लकड़ी। दूसरा निकट की वस्तुओं को प्राप्त करना जिसे फंदा, लकड़ी, भाले आदि के द्वारा प्राप्त किया जाता था। लकड़ी तथा हड्डियों से बने उपकरणों के द्वारा आदिम व्यक्ति शिकार करता था। चाकू, भाला, पत्थर की कुल्हाड़ियों का प्रयोग भी आदिम व्यक्ति शिकार के लिए करता था। शिकार करने का मुख्य उद्देश्य भोजन, वस्त्र, तथा घर बनाने के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त करना होता था। शिकारी जातियॉ शिकार का कोई भाग वर्वाद नहीं होने देती। पशुओं की सींग से व्लो पाईप बनाने, घर की सजावट की वस्तुए बनाने, कंघी, दस्ते आदि बनाने, उनकी तोतें चमड़ा सीने के लिए डोरी आदि के रूप में तथा हड्डियॉ औजार, तीर कमान, सजावट की वस्तुऍ बनाने के लिए प्रयोग में लायी जातीं थीं। शिकार करने का कार्य अधिकांशतया पुरूष करते थे। महिलाओं का कार्य जाल बनाना, शिकार को काटना, साफ करना, उसे खाने के लिए पकाना, सुखाना और भविष्य के लिए बचाकर रखना होता था। स्त्रियॉ कंद मूल, बेर, फल आदि भी एकत्रित करतीं थीं। भारत में प्रायद्वीप पर पलियान, इरूला, पनयान, यनाडी, कुरूवा, चेचू, कटकारी, विरहोर और कोरवा जनजातियॉ शिकार के द्वारा गुजर बसर करती हैं। भारत के पूर्वी भाग में एशियाई पिग्मी अंडमान में सकाई और सेमांग जातियॉ भी शिकारी जातियॉ हैं। आधुनिक समय में ये सभी जनजातियॉ शिकार करने के लिए अनेक प्रकार के तीर कमान, विष लगे भाले, फंदे, लकड़ी के तीर, राइफल, हुक आदि का प्रयोग करती है। मछलियॉ पकड़ना आज भी इस व्यवसाय में अधिक प्रचलित जीवन निर्वाह का तरीका है।

2. खाद्य पदार्थों का संकलन – जंगलों तथा दूभर स्थानों से खाद्य पदार्थों का संकलन कर लोग गुजर बसर करते हैं। संचयकर्ता सभी तरह की वस्तुओं का संकलन करते हैं जैसे वृक्षों की जड़ें, वृक्षों की छालें, पत्तियॉ, वृक्षों के तने आदि।

जंगलों से इकट्ठा किये जाने वाला मुख्य पदार्थ अग्रलिखित है –

1. चिकल या चिकलेरीज–यह जपोट वृक्ष से प्राप्त रस होता है। रबर की भांति इसका दूध इकट्ठा किया जाता है।
2. वलाटा
3. नट या सुपारियॉ
4. आइवरी नट
5. ताड़ नट
6. नारियल

7. कोहन नट

8. खजूर

9. रेशे

10. औषधियॉ

11. रंगने का सामान

12. गोंद

13. लाख

14. गटापारचा

15. गंधा विरोजा।

3. चरवाहा – पशुपालन – व्यापारिक पैमाने पर पशुओं को पालकर, चरवाहा जीवन व्यतीत करने वालों का आजीविका का साधन पशु है। मोटे तौर पर गाय, बैल, भेड़, बकरियॉ, सूअर आदि को पालकर लोग जीवकोपार्जन करते हैं। व्यापारिक पशुपालन का उद्देश्य पशुओं का मांस, ऊन, चमड़ा, खालें, बाल, खुर आदि प्राप्त कर उनका निर्यात करना है। भोजन सामग्री, वस्त्र, औद्योगिक कच्चा माल आदि की प्राप्ति एवं खेती तथा यातायात के कार्य के लिए विभिन्न पशुओं को पाला जाता है। ये पशु उस देश विशेष की प्राकृतिक व्यवस्था, जलवायु और वनस्पति के अनुसार ही मिलते हैं। इनमें आर्थिक महत्व पालतू पशुओं का है।

पशुओं से प्राप्त होने वाले भोज्य पदार्थों का महत्व वनस्पति से प्राप्त मानव भोजन का एक तिहाई हैं। प्रति वर्ष यातायात के लिए जितने पशु काम में लाये जाते हैं उनका मूल्य 3 अरब डालर के पास है। घोड़े, खच्चर, ऊॅट, बैल आदि पशुओं का इस्तेमाल यातायात के लिए किया जाता है। पशुओं से प्राप्त ऊन और चमड़े से एक करोड़ डालर से अधिक का लाभ मिलता है। भोज्य पदार्थ के रूप में दूध, दही, पनीर, मक्खन, मॉस आदि पशुओं से प्राप्त होता है।

भारतवर्ष में गाय, भैंस, भेड़, बकरी सूअर आदि मनुष्य के भोजन के साधन हैं जबकि घोड़े, खच्चर, गधे, बैल, याक लामा, ऊॅट और हाथी सवारी तथा बोझा ढ़ोने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं।

डेयरी फार्मिंग के अन्तर्गत दूध, मक्खन, पनीर आदि तैयार किया जाता हैं तथा धन कमाया जाता है।

4. झूमखेती – भारतवर्ष के उत्तरी पूर्वी प्रदेशों की कुछ जनजातियॉ झूम खेती के माध्यम से अपना जीविकोपार्जन करते हैं। झूमखेती उस अस्थायी खेती को कहते हैं जो वर्षों से होता चला आ रहा हैं। जनजातीय लोग जंगलों को साफ करके छोटे–छोटे खेत बनाकर उसमें खेती करते हैं। जब तक फसल में उत्पादन अच्छा होता रहता है तब तक उस भूमि में खेती होती है। जब उत्पादन कम हो जाता है तो दूसरी भूमि

चुनकर वहाँ खेती प्रारम्भ किया जाता हैं। यहाँ भी जब पैदावार कम हो जाती है तो तीसरा खेत चुना जाता है। जब यहाँ भी पैदावार कम हो जाती है तो फिर पहले वाले खेत में पैदावार शुरू की जाती है। इस प्रकार जो खेती की विधि है उसे झूम खेती कहते हैं।

5. **स्थायी खेती –** इसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में है।
6. **औद्योगिक कारखाना व्यवस्था –** इस व्यवस्था का भी विस्तृत विवरण अगले अध्यायों में है।
7. **औद्योगिक सेवा व्यवस्था –** आर्थिक जीवकोपार्जन की इस व्यवस्था का पूरा विवरण अगले अध्यायों में है।

13.5 सारांश

समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए उसके विभिन्न पहलुओं में सामंजस्य आवश्यक है जिसमें धार्मिक, राजनैतिक, प्रौद्योगिकीय, सांस्कृतिक आर्थिक आदि प्रमुख हैं पुरूषार्थ सिद्धान्त में भी धर्म के बाद अर्थ को स्थान दिया गया है कार्लमार्क्स का आर्थिक निर्धारणवाद का सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति उसके सामाजिक सम्बन्धों को तय करती है। यही प्रतिष्ठा का भी आधार होता है जिसका महत्वपूर्ण उदाहरण अमेरिका देश है जहाँ पूँजी की महत्ता के कारण उसका स्थान विश्व में अग्रणी है।

अर्थ व्यवस्था का सामान्य अर्थ मानव की भोजन संबंधी, वस्त्र संबंधी, आवास संबंधी तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आर्थिक गतिविधियों का किया जाना। किसी भी देश की आर्थिक स्थिति के निर्धारण में वहाँ के पर्यावरण व संसाधन का महत्वपूर्ण योगदान होता हैं। अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारकों में प्राकृतिक संसाधन, मानवीय संसाधन, आर्थिक विकास की इच्छा शक्ति, वैयक्तिक प्रेरणा, अर्थ की आवश्यकता (अर्थात भोजन, वस्त्र, आवास) आदि प्रमुख हैं।

अर्थव्यवस्था का निर्धारण प्रति व्यक्ति आय व संसाधनों का पर्याप्त मात्रा में उपलब्धता होने से है। भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति वास्तविक आय का कम होना, आय का असमान वितरण, गरीबी, कृषि की प्रधानता व त्रुटि पूर्ण नीति, औद्योगीकरण की कमी, निर्यात पर निर्भरता, बैंकिंग सुविधाओं का अभाव, मौसमी बेरोजगारी, जनसंख्या की अधिकता, जन्म और मृत्यु दर का उँचा होना, कम साक्षरता, अंधविश्वास, स्त्रियों की निम्न प्रस्थिति, निर्यात की अपेक्षा आयात की अधिकता, प्रौद्योगिकीय विकास की कमी, प्राकृतिक संसाधनों का कम दोहन आदि का उल्लेख किया जाता है। जनसंख्या की रचना भी आर्थिक उत्पादन कार्य में सहायक प्रतित नहीं होती। भारतवर्ष की आर्थिक व्यवस्था कृषि पर आज भी केन्द्रित है। 1956 ई. के बाद औद्योगीकरण का योगदान भी देखने को मिल रहा है।

13.6 परीक्षापयोगी प्रश्न

प्रश्न 1 अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2 अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 3 भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रकृति का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 4 भारतीय अर्थव्यवस्था आज भी मुख्य रूप से कृषि अर्थव्यवस्था है स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5 अर्थव्यवस्था के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 अर्थव्यवस्था का संबंध है।

(क) राजनैतिक (ख) आर्थिक

(ग) सामाजिक (घ) कोई नहीं

प्रश्न 2 मानव की मूलभूत आवश्यकता है।

(क) भोजन (ख) आवास

(ग) वस्त्र (घ) सभी

प्रश्न 3 भारतीय अर्थव्यवस्था हैं –

(क) विकसित (ख) अविकसित

(ग) विकासशील (घ) रूग्ण

उत्तर– 1– (ख) 2– (घ) 3– (ग)

इकाई—14

कृषि अर्थव्यवस्था

<u>इकाई की रूपरेखा—</u>

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 कृषि अर्थव्यवस्था का अर्थ

14.2.1 भारतीय कृषि अर्थव्यस्था का महत्व

14.3 कृषि के प्रकार

14.4 भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएँ

14.5 कृषि अर्थव्यवस्था हेतु सरकारी प्रयास

14.5.1 कृषि में यंत्रीकरण

14.6 सामुदायिक विकास कार्यक्रम

14.7 हरित क्रान्ति

14.7.1 हरित क्रान्ति की सफलता के कुछ सुझाव

14.8 कृषि और ग्रामीण विकास के सरकारी प्रयास

14.9 सारांश

14.10 परीक्षापयोगी प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे—

- कृषि अर्थव्यवस्था का अर्थ।
- कृषि के प्रकार।
- भारतीय कृषि की विशेषताएँ एवं महत्व।
- कृषि अर्थव्यवस्था हेतु सरकारी प्रयास व यंत्रीकरण।
- सामुदायिक विकास कार्यक्रम।
- हरित क्रान्ति की सफलता के कुछ सुझाव।
- कृषि और ग्रामीण विकास के सरकारी प्रयास।

14.1 प्रस्तावना

भारतवर्ष आज भी एक कृषि प्रधान देश है। भारतीय अर्थव्यस्था की रीढ़ वास्तव में कृषि अर्थव्यवस्था है। भारतवर्ष के प्रथम प्रधानमंत्री पं0 जवाहरलाल नेहरू ने प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–1956) के प्रारम्भ में कहा था कि कृषि को प्राथमिकता देने की आवश्यकता है क्योंकि यदि कृषि कार्य असफल रहता है तो सरकार और देश दोनो असफल हो जायेंगे। संभवः इसलिए योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में उन्होने प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य कृषि का विकास निर्धारित किया था। भारतवर्ष में छः लाख से अधिक गॉव है जहॉ 65 से 70 प्रतिशत भारत की जनसंख्या निवास करती है। इतनी अधिक जनसंख्या का मुख्य पेशा कृषि हैं। कृषि कार्य में लगे किसान दो प्रकार के हैं (1) एक वे जिनकी अपनी कृषि योग्य भूमि है और वे स्वयं उस भूमि पर खेती वारी करते हैं (2) दूसरे वे लोग जो कृषि कार्य करते हैं उसी पर पूरी तरह से आश्रित भी हैं परन्तु उनके पास स्वयं की कृषि योग्य भूमि नहीं है। वे बटाई पर खेती करते हैं। भारत में सबसे अधिक रोजगार कृषि क्षेत्र से मिलता है। भारतवर्ष की कुल भूमि का लगभग 44 प्रतिशत भाग कृषि योग्य भूमि का है। विश्व के अनेक देश ऐसे हैं जहॉ की कुल भूमि में से कृषि योग्य भूमि का प्रतिशत बहुत कम है। जैसे आस्ट्रेलिया में केवल 2 प्रतिशत भूमि ही कृषि योग्य हैं, कनाडा में इसका प्रतिशत 3; सोवियत रूस में 8; अर्जेन्टीना में 9; फ्रांस में 36; तथा स्पेन में 37 है। कृषि अर्थव्यवस्था ही औद्योगिक अर्थव्यवस्था तथा सेवा अर्थव्यवस्था को आधार प्रदान करती है।

14.2 कृषि अर्थव्यवस्था का अर्थ

कृषि तथा उससे जुड़े गतिविधियों से अर्थव्यवस्था या समाज के आर्थिक पहलू में योगदान कृषि अर्थव्यवस्था से व्यक्त किया जाता है। भारत के उद्योग धन्धे, दूसरे देशों से व्यापार, विदेशों से व्यापार के परिणाम स्वरूप विदेशी मुद्रा की प्राप्ति, विकास कार्य के लिए चलायी जा रही विभिन्न परियोजनाओं की सफलता तथा राजनैतिक स्थायित्व कृषि पर आश्रित है।

14.2.1 भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था का महत्व

भारतवर्ष में कृषि कार्य की महत्ता के प्रमुख कारण अग्रलिखित हैं।

1. **भारतीयों को आधिक रोजगार का अवसर सुलभ कराना –** भारतवर्ष में कृषि कार्य से सर्वाधिक 65 प्रतिशत से अधिक रोजगार का अवसर लोगों को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त करोड़ों लोगों को अप्रत्यक्ष रूप से कृषि से संबंधित अन्य गतिविधियों मे रोजगार प्राप्त होता है।

2. **राष्ट्रीय आय में वृद्धि –** भारतीय अर्थव्यवस्था में सबसे अधिक योगदान कृषि अर्थव्यवस्था से पहुँचता है। एक अनुमान के अनुसाार राष्ट्रीय आय में कृषि अर्थव्यवस्था का योगदान 33 प्रतिशत है।

3. **विभिन्न प्रकार के उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति –** वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, चाय, काफी, रबर, तेल, वनस्पति घी आदि के लिए कच्चा माल कृषि

द्वारा प्राप्त होता है। चावल के लिए धान, आटा के लिए गेहू, जौ आदि तेल के लिए सरसों आदि कृषि से ही प्राप्त होता है।

4. **विदेशी मुद्रा की प्राप्ति –** दूसरे देशों को कृषि उत्पादों को निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जाती है।

5. **खाद्यानों की पूर्ति –** जीवन के लिए वायु और पानी के बाद भोजन आवश्यक है। भोजन की पूर्ति कृषि उत्पाद करते हैं। भारतवर्ष अब खाद्यान के मामले में आत्मनिर्भर हो गया है। हरित क्रान्ति ने खाद्यान उत्पादन को कई गुना बढ़ाया है।

6. **राजस्व में योगदान –** कृषि से करोड़ों रूपये आयकर के रूप में सरकार को मिलता है। कृषि उत्पादों के निर्यात से भी राजस्व को लाभ होता है।

7. **पशुधन में वृद्धि –** पशुओं को चारा भूसे के रूप में गेहू, जो के डंठल से प्राप्त होता है। पशु चारा की उपलब्धता के कारण ही पशुओं की संख्या बढ़ती है।

8. **परिवहन में वृद्धि –** कृषि उत्पादों को इधर–उधर लाने के लिए परिवहन व्यवस्था आवश्यक है। खाद्यान का उत्पादन जितना अधिक होगा परिवहन के साधनों में उसी अनुपात में वृद्धि स्वभाविक है। परिवहन के साधनों में वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि आवश्यंभावी है।

9. **अन्तर्राष्ट्रीय परिदृष्य में योगदान –** कृषि के कारण ही आज भारत विश्व में एक शक्ति के रूप में जाना जाता है। चाय और मूंगफली का निर्यात यहॉ से होता है। चावल, कपास, जूट, गन्ना आदि व्यवसायिक फसलों से ग्रामीण अपने आर्थिक पहलू को मजबूत कर रहे हैं।

14.3 कृषि के प्रकार

कृषि वैज्ञाानिकों ने कृषि के अग्रलिखित सात प्रकारों का वर्णन किया है।

1. **आदिम भरण–पोषण वाली कृषि –** आदिम लोग चूँकि दुर्गम स्थलों जंगलों आदि के आसपास रहते हैं इसलिए इन लोगों का खेती का ढ़ंग भी अपने विशेष प्रकार का होता है। जनजातीय लोग जंगलों को काटकर पहाड़ी ढ़ालों पर अथवा नदियों के किनारे ऊँचे स्थानों पर छोटे–छोटे खेत बनाकर उनमें खेती करते है। झूम खेती कुछ जनजातियों की विशेषता रही है। चूँकि इनकी खेती परम्परागत होती हैं इसलिए उत्पादन सीमित हो पाता है। इस प्रकार के कृषि को कुदाली कृषि कहा जाता है। फावड़े, खुर्पी, हल, बैल आदि का प्रयोग कृषि कार्य के लिए किया जाता है।

2. **पौधे वाली कृषि –** इस प्रकार की कृषि में बड़े–बड़े खेतों में व्यवसायिक फसलों को उगाकर लाभ कमाया जाता है। कृषि कार्य में आधुनिक कृषि उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। कपास, जूट, मूंगफली, गन्ना, केला, चाय, कहवा, कोको, ताड़, रबर, नारियल आदि का उत्पादन प्रचुर मात्रा में किया जाता है।

3. **सघन भरण पोषण वाली कृषि –** हल बैल से खेती करके स्थानीय उपयोग के लिए कृषि वस्तुओं का उत्पादन किया जाता हैं। इस प्रकार की कृषि प्रायः

समतल मैदानी भागों तथा पठारी भागों में की जाती है। धान, ज्वार, बाजरा तथा दालों का उत्पादन किया जाता हैं। हल बैल से खेती का कार्य होता है। खेतों का जोत छोटा होता है। गोबर और हरी खाद का प्रयोग उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के लिए किया जाता है।

4. **व्यापारिक अनाज उत्पादक कृषि** –

5. **व्यापारिक फलोत्पादक कृषि** –

14.4 भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताएँ

1. **खाद्यान फसलों की प्रमुखता** – भारतवर्ष में अधिकांश जोतों में खाद्यान फसलें जैसे धान, गेहू, जौ, बाजरा, मक्का, अरहर, मूंग, सरसों, राई, तीसी, मूंगफली आदि की खेती की जाती है। कृषि विशेषज्ञों का मत है कि कुल कृषि योग्य भूमि में से 80 प्रतिशत भाग में खाद्यान बोया जाता है शेष में व्यवसायिक फसलों की खेती होती है।

2. **प्रमुख आजीविका का साधन** – भारतीय लोगों के अधिकांश भाग की आजीविका कृषि पर आश्रित है। 65 से 70 प्रतिशत लोग कृषि कार्य से अपना गुजर बसर करते हैं। किसान, बटाई कृषक तथा कृषि मजदूर के रूप में लोग आजीविका प्राप्त करते हैं

3. **छोटी–छोटी जोतें** – यहॉ कृषि खेतों का आकार छोटा है। छोटे–छोटे खेतों के कारण ही कृषि से अपेक्षित लाभ नहीं मिल पाता है। यांत्रिक कृषि छोटी–छोटी जोतों के कारण संभव नहीं हो पाता।

4. **कृषि कार्य के परम्परागत तरीके** – हल बैल से कृषि कार्य भारत की प्राचीन विशेषता है। यद्यपि परम्परागत कृषि कार्य अब लाभकारी नहीं रहा।

5. **कृषि उत्पादकता में कमी** – यहॉ कृषि उत्पादकता दूसरे देशों की तुलना में बहुत कम है। भारत में जहॉ एक हेक्टेयर में 2397 किलोग्राम गेहू पैदा किया जाता है वहीं इंग्लैण्ड में यह पैदावार 6135 किलोग्राम होती है। कृषि उत्पादकता में कमी के कारण आधुनिक खेती नहीं की जाती है। हरित क्रान्ति ने अब भारत में भी उत्पादकता को बढ़ाना प्रारम्भ किया है। आशा की जानी चाहिए कि जल्द ही भारत में भी कृषि उत्पादकता अन्य देशों के समान हो जायेगा।

6. **मानसून पर निर्भरता** – भारतवर्ष में अभी कृषि मानसून पर निर्भर है। यदि बारिश समय–समय पर होती गयी और पूरी मात्रा में हुई तो पैदावार भरपूर होगा। यदि वर्षा समय से नहीं हुई तो पैदावार प्रभावित होता है। सिंचाई के कृत्रिम साधन बढ़े हैं फिर भी आवश्यकता अनुसार वे पूरे नहीं हैं।

7. **मौसमी रोजगार** – कृषि कार्य में फसल बोने के समय तथा फसल काटने के समय रोजगार मिलता है। मौसमी रोजगार होने के कारण वर्ष के अधिकांश महीनों में कृषि श्रमिक बेकार बैठे रहते हैं।

8. श्रम प्रधानता – भारतीय कृषि श्रम प्रधान कृषि व्यवस्था है। यहॅा पूॅजी की महत्ता कम इसलिए है क्योंकि भारतीय किसान गरीब हैं ओर वे कृषि कार्य में अधिक पूॅजी लगाने में असमर्थ हैं।

9. राष्ट्रीय आय का प्रमुख श्रोत – यह निर्विवाद सत्य है कि कृषि ही राष्ट्रीय आय का प्रमुख श्रोत हैं।

10. कृषि मात्र जीविकोपार्जन का साधन – छोटी–छोटी जोतों के कारण यहॅा कृषि अभी भी लाभकारी व्यवसाय नहीं है कृषि कार्य में लगे लोग केवल अपने आस्तित्व की रक्षा कर पाते हैं। फिर भी उनके रहन–सहन का स्तर ऊपर नहीं उठा पाता।

14.5 कृषि अर्थव्यवस्था हेतु सरकारी प्रयास

यह निर्विवाद स्वीकार्य है कि भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार कृषि है। कृषि को सशक्त करने में सरकार निरंतर सक्रिय रहती है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत किये गए कुछ कार्य अग्रलिखित है।

1. 1986 ई. में प्रारम्भ तिलहन उत्पादन कार्यक्रम।
2. राष्ट्रीय दलहन विकास परियोजना।
3. त्वरित मक्का विकास कार्यक्रम।
4. फसल कटाई बाद की प्रौद्योगिकी।

दसवीं पंचवर्षीय योजना काल में "तिलहन, दलहन, आयल, पाम और मक्का फसलों का समन्वित कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। 9वीं पंचवर्षीय योजना में प्रारम्भ किये गए गेहूॅ आधारित फसल प्रणाली क्षेत्रों में एकीकृत अनाज विकास कार्यक्रम (आई. सी. डी. पी.–गेहूॅ)। चावल आधारित फसल प्रणालीक्षेत्रों में एकीकृत अनाज विकास कार्यक्रम (आई. सी. डी. पी.–चावल); आई. सी. डी. पी.– मोटे अनाज कार्यक्रम प्रारम्भ किये गए।

बागवानी के क्षेत्र में नारियल, सुपारी, काजू, अदरक, हल्दी, काली मिर्च आदि के क्षेत्र में भारत विश्व में प्रथम तथा फल और सब्जियों के उत्पादन के क्षेत्र में दूसरे स्थान पर है।

फूल के खेती की परम्परा प्राचीन काल से रहा है। अब इसे बड़े पैमाने पर व्यवसायिक फसल के रूप में अपनाया गया हैं। इसी प्रकार औषधीय और सुगंन्धित पौधों की खेती को बढ़ावा दिया जा रहा है। राष्ट्रीय बागवानी मिशन का उद्देश्य फल, फूल को व्यवसायिक मानकर उसका उत्पादन वृहद स्तर पर करने का है।

कृषि पैदावार को बढ़ाने के उद्देश्य से मिट्टी ओर जल संरक्षण के उपाय अपनाये गए हैं। नदी घाटी परियोजना के जलग्रहण क्षेत्र में मिट्टी के संरक्षण तथा बाढ़ की आशंका वाली नदियों की एक परियोजना प्रारम्भ की गयी है। क्षारीय मिट्टी को सुधारने की एक योजना केन्द्र सरकार ने प्रारम्भ किया है। पूर्वोत्तर राज्यों मे जहॅा झूम खेती होती है उसके लिए जल ग्रहण क्षेत्र विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया है। जलसंभर विकास के द्वारा वर्षा सिंचित क्षेत्रों के सम्पूर्ण और निरंतर विकास को प्राथमिकता दिया गया है। समन्वित पोषक तत्व प्रवंधन का मुख्य उद्देश्य किसानों को उनकी समयबद्ध मॉगों का आकलन कर समय पर गुणवत्ता युक्त उर्वरकों की आापूर्ति करना; मिट्टी के परीक्षण के आधार पर संतुलित मात्रा में उर्वरकों के प्रयोग और शहरी कचरे से जैविक खाद बनाने को बढावा देना है। यूरिया उर्वरक का मूल्य सरकार तय

करती है। किसानों को उचित दामों पर इसकी आपूर्ति जारी रखने के लिए केन्द्र सरकार सब्सिडी देती है। "उर्वरकों का संतुलित और समन्वित प्रयोग" नामक प्रायोजित कार्यक्रम सरकार ने प्रारम्भ किया है। जैव उर्वरकों के विकास तथा प्रयोग की राष्ट्रीय परियोजना भी कार्यरत है। कीड़े मकोड़ो से फसलों को सुरक्षित रखने के लिए कीट नाशक दवाइयों का प्रयोग प्रारम्भ किया गया है। पादप–संरक्षण नीति के अन्तर्गत केन्द्र सरकार ने कीट प्रवंधन को अपनाया है। विदेशी कीटों और विमारियों को देश में आने से रोकने के लिए पौध संगरोधन गतिविधियॉ चलाई जा रही है।

14.5.1 कृषि में यन्त्रीकरण

हल बैल से खेती के स्थान पर ट्रैक्टर तथा यन्त्रीकृत कृषि पर बल दिया जा रहा है। किसानों के पुराने तथा बेकार हो चुके कल पुर्जों और मशीनों के स्थान पर आधुनिक प्रौद्योगिकी को अपनाने की बात व्यवहारगत की गयी है। इसके अन्तर्गत किसानों को ट्रैक्टर, पावर ट्रिलर, हारवेस्टर तथा दूसरी मशीनें दी जाती हैं। कृषि इंजीनियरी और प्रौद्योगिकी में ट्रैक्टर चलित मशीनरी के अन्तर्गत लेजर गाइडेड लेवलर, को विकसित किया गया है। बिजली से संचालित मशीनरी के अन्तर्गत चियर शेडर और हल्के पावर हल का निर्माण किया गया। स्वनोदित और स्थिर मशीनरी के अन्तर्गत क्रमशः आठ पक्तियों वाले प्रीजमिनेटिक राइस सीडर और इंजन चलित गन्ना लीफ स्ट्रियर का निर्माण किया गया है। पैडलचलित पोटेटो स्लाइसर का निर्माण किया गया। सोयावीन और सूरजमुखी के बीजों का निर्जलीकरण के लिए प्रयोग किये जाने वाले स्टार्टर, आम की परिपक्क्ता मापने के लिए कलरमीटर, शरीफे का गुदा निकालने वाला पल्पर और सरसो के बीजों के प्रसंस्करण की एक नई तकनीक विकसित की गयी। कृषि विकास गतिविधियों का उद्देश्य किसानों को कृषि प्रौद्योगिकयों को संप्रेषण है। प्रशिक्षण, परीक्षण और प्रदर्शन के द्वारा कृषि यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कृषि दर्शन कार्यक्रम के द्वारा कृषि कार्यों को बढ़वा दिया जा रहा है। किसानों को निर्यात संबंधी जानकारी देने के लिए देश भर में शुल्क मुक्त लाइनों के द्वारा किसान काल सेन्टरों का संचालन/गुणवत्ता युक्त बीजों के उत्पादन और वितरण के लिए बुनियादी सुविधाओं का विकास और सुदृढ़ीकरण चौधरी चरण सिंह राष्ट्रीय कृषि विपणन संस्थान का कार्य शिक्षा, प्रशिक्षण, अनुसंधान परामर्श परियोजनाएँ और कृषि मंत्रालय से संबद्ध नीतिगत कार्य सम्मिलित हैं। लघु कृषक व्यापार संघ की स्थापना 1994 ई. में हुआ। देश में सहकारिता आंदोलन कृषि और उससे संबंधित क्षेत्रों से शुरू हुआ। वह राज्यीय सहकारी समितियॉ अधिनियम 2002 ई. में पारित हुआ। इसमें खाद्य पदार्थ, औद्योगिक वस्तुएँ, मवेशी और संचार सेवाओं को कार्यक्रमों एवं गतिविधियों में सम्मिलित किया गया है। महाजनों के चंगुल से किसानों को बचाने के लिए सहकारी . ऋण ढ़ांचे को सशक्त बनाया गया। पशुपालन क्षेत्र को अधिक अंश में बढ़ावा दिया जा रहा है। गाय, बैल और भैंस प्रजनन की राष्ट्रीय परियोजना के अन्तर्गत कार्यक्रम को लागू करने वाली ऐजेन्सियों को शत प्रतिशत सहायता दिया जाता हैं। कुक्कुट पालन, भेंड़ विकास, सुअर विकास के लिए परियोजनाएँ चल रही हैं। डेयरी विकास भी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए आवश्यक है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद भुखमरी बेरोजगारी को दूर कर खेती से होने वाली आय को बढ़ाने के लिए कार्यरत है। बागवानी कार्यक्रम के अन्तर्गत केला, बेर, अनार आदि को विकसित कर रही है। सब्जियों में लौकी, पालक, टमाटर, बैगन, फूलगोभी, करेला सेम तथा खीरा आदि के

विकसित प्रजातियॉ प्रयोग में लायी जा रहीं हैं। आलू की गर्मीरोधी शंकर प्रजाति, शकरकंद की शंकर प्रजाति विकसित की गयी है।

14.6 सामुदायिक विकास कार्यक्रम

2 अक्टूबर, 1952 को प्रारम्भ किये गए सामुदायिक विकास कार्यक्रम का उद्देश्य जहॉ एक ओर कृषकों की आर्थिक स्थिति को सुधारना है वहीं इसका मुख्य उद्देश्य एक नवीन ग्रामीण संस्कृति को विकसित करना है। ग्रामीण संस्कृति का तात्पर्य ग्रामीणों के नवीन जीवन ढ़ंग से है। कृषकों में गरीबी, अज्ञानता, अंधविश्वास, निरक्षरता सदियों से चली आ रही है। इस कार्यक्रम के माध्यम से इन बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है। सहकारी संस्थाएँ, ग्रामीण पाठशालाएँ तथा पंचायतें विकसित होकर कृषकों को अज्ञानता, ऋणग्रस्तता तथा सामाजिक अन्याय से मुक्ति दिला सकेंगी।

14.7 हरितक्रान्ति

कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए हरितक्रान्ति को अपनाया गया। यह आन्दोलन 1968–69 से सघन रूप से चल रहा है। कृषि वैज्ञानिक डा0 स्वामीनाथन हरितक्रान्ति के अग्रणी हैं।

हरितक्रान्ति से तात्पर्य कृषि कार्य में बिना कृषि जोत को बढ़ाए कृषि उत्पादन को बढ़ाना है। इसमें उन्नत बीज, उर्वरक और सिचाई के साधन संम्मिलित हैं। हरितक्रान्ति के सहायक कारक अग्रलिखित हैं–

1. अधिक उपज देने वाले उन्नत बीज
2. उर्वरक – परम्परागत एवं आधुनिक
3. कीटनाशक दवाओं का प्रयोग
4. सिंचाई की बेहतर सुविधा
5. कृषि कार्य हेतु नवीन प्रौद्योगिकी का प्रयोग

14.7.1 हरितक्रान्ति की सफलता के कुछ सुझाव

1. सभी फसलों एवं सभी क्षेत्रों को कार्यक्रम में सम्मिलित करना।
2. सिंचित जोतों में वृद्धि करना।
3. छोटे कृषकों को प्रोत्साहन प्रदान करना।
4. एकीकृत फार्म नीति।
5. संस्थागत परिवर्तन।
6. ग्रामीण रोजगार अवसरों में वृद्धि।
7. कृषि वित्त की सुविधा।

14.8 कृषि और ग्रामीण विकास के सरकारी प्रयास

कृषि और ग्रामीण विकास के सरकारी प्रयास अग्रलिखित हैं –

1. सामुदायिक विकास कार्यक्रम 1952
2. राष्ट्रीय विकास सेवा कार्यक्रम 1953
3. खादी एवं ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम 1957
4. ग्रामीण आवासीय योजना 1957
5. बहुद्देशीय अनुसूचित जनजाति विकास खण्ड कार्यक्रम 1957
6. गहन जिला कृषि कार्यक्रम 1960
7. व्यवहारिक आहार कार्यक्रम 1964
8. कृषक प्रशिक्षण एवं शिक्षा कार्यक्रम 1966
9. कुऑ निर्माण कार्यक्रम 1966
10. ग्रामीण जनशक्ति कार्यक्रम 1969
11. सुखा क्षेत्र पीड़ित कार्यक्रम 1970
12. ग्रामीण रोजगार नगदी योजना 1971
13. लघु कृषक विकास ऐजेन्सी 1971
14. जनजाति क्षेत्र विकास कार्यक्रम 1972
15. ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम 1972
16. न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम 1972
17. सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम 1973
18. विशेष दुग्ध उत्पादक कार्यक्रम 1975
19. बीस सूत्रीय कार्यक्रम 1977
20. मरूभूमि विकास कार्यक्रम 1977
21. काम के बदले अनाज कार्यक्रम 1977
22. सम्पूर्ण ग्रामीण विकास कार्यक्रम 1979
23. अन्त्योदय कार्यक्रम 1979
24. समन्वित विकास कार्यक्रम 1979

25. ग्रामीण युवा स्वरोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम 1979

26. राष्ट्रीय रोजगार कार्यक्रम 1980

27. ग्रामीण भूमिहीन गारंटी कार्यक्रम 1983

14.9 सारांश

➢ **कृषि का महत्व–**

1. भारत की सर्वाधिक जनता कृषि पर आश्रित।
2. कृषि क्षेत्र में रोजगार के सबसे अधिक अवसर।
3. राष्ट्रीय आय का मुख्य श्रोत।
4. उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराना।
5. खाद्यान्नों की आपूर्ति।
6. पशुओं के लिए चारा की उपलब्धता।
7. निर्यात से विदेशी मुद्रा की प्राप्ति।

➢ **कृषि की प्रमुख विशेषताएँ–**

1. खाद्यान्न फसलों की प्रमुखता।
2. हल, बैल से अधिकांश कृषि कार्य।
3. छोटे – छोटे खेत
4. उत्पादन का परम्परागत तरीका।
5. उत्पादकता दर की कमी।
6. श्रम की अधिकता।
7. स्थायी रोजगार की कमी।

➢ **राष्ट्रीय कृषि नीति की विशेषताएँ–**

1. कृषि को उद्योग के समान सुविधाएँ।
2. सरकारी हस्तक्षेप की कमी।
3. कृषि में मशीनीकरण।
4. कृषि कार्य में आधुनिकीकरण।
5. सहायक उद्योगों को बढ़ावा।
6. व्यवसायिक फसलों में बढ़ोत्तरी।
7. गैर सरकारी संगठनों का सक्रिय योगदान।

➢ **<u>कृषि उत्पादकता में कमी का कारण</u>–**

1. कम उपजाऊ भूमि।
2. नयी प्रौद्योगिकी की कम जानकारी।
3. मिट्‌टी का ऊसर होना।
4. उन्नत बीजों की कमी।
5. सिचाई साधनों की कमी।
6. जोतों का छोटा आकार।
7. कृषकों की परम्परागत मनोवृत्ति।

➢ **<u>उत्पादकता को बढ़ाने के सुझाव</u>–**

1. कृषि ज्ञान का प्रचार प्रसार।
2. उन्नत बीज और उर्वरकों का प्रवंधन।
3. सिंचाई की सुविधा देना।
4. ऋण सुविधाओं की प्रचुरता।
5. भूमि सुधार कार्यक्रमों का विस्तार।
6. कृषि उत्पादों का समुचित मूल्य देना।
7. किसानों के दृष्टिकोण को आधुनिक बनाना।
8. कृषि अनुसंधान कार्य को प्राथमिकता।
9. कृषि में यन्त्रीकरण।
10. विपणन ढ़ंग में सुधार।

➢ **<u>सरकार द्वारा कृषि सुधार के उपाय</u>–**

1. राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना।
2. रासायनिक खाद इकाईयों की स्थापना।
3. कीटनाशक दवाओं की व्यवस्था।
4. सिंचाई के आधुनिक तरीकों का प्रयोग।
5. प्रशिक्षण की व्यवस्था।
6. बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार।
7. कृषि उत्पादों के लिए बाजार की व्यवस्था।
8. कृषि विकास के लिए अनुसंधान की सुविधाओं में विस्तार।

- **<u>कृषि की समस्याऍं</u> –**

  1. उन्नत बीज की समस्या।
  2. सिचाई साधनों की समस्या।
  3. महंगे उर्वरकों की समस्या।
  4. छोटे–छोटे जोतों की समस्या।
  5. कृषि कार्य हेतु सस्ते कर्ज की समस्या।
  6. पौध संरक्षण की समस्या।
  7. भूमि संरक्षण की समस्या।
  8. कम उत्पादकता की समस्या।

14.10 परीक्षापयोगी प्रश्न

1. कृषि अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताऍं कौन कौन सी हैं?
2. भारत में निम्न कृषि उत्पादकता के क्या कारण हैं?
3. कृषि उत्पादकता बढ़ाने के सुझाव दीजिए।
4. भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व की विवेचना कीजिए।
5. कृषि में हरितक्रान्ति की उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
6. भारत के आर्थिक विकास के लिए कृषि विकास क्यों महत्व रखता है?
7. भारतीय कृषि की उन्नति में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1 सामुदायिक विकास कार्यक्रम किस वर्ष में प्रारम्भ हुआ?

(क) 1950 (ख) 1951

(ग) 1952 (घ) 1953

प्रश्न 2 हरितक्रान्ति के जन्मदाता भारतवर्ष में कौन हैं?

(क) राजीव गॉधी (ख) लाल बहादुर शास्त्री

(ग) जवाहर लाल नेहरू (घ) स्वामीनाथन

प्रश्न 3 भारत वर्ष में आज भी कृषि कार्य–

(क) सतही स्तर का

(ख) परंपरावादी

(ग) परंपरा के साथ आधुनिक ज्ञान का प्रयोग

(घ) सभी

उत्तर– 1– (ग) 2– (घ) 3– (ग)

इकाई–15

औद्योगिक अर्थव्यवस्था

<u>इकाई की रूपरेखा–</u>

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 हस्तकला स्तर

15.3 कारखाना व्यवस्था

15.3.1 श्रमिकों पर प्रभाव

15.3.2 सामाजिक संबंधों पर प्रभाव

15.3.3 निगम नियंत्रण विधि

15.4 कुटीर एवं लघु उद्योग

15.4.1 कुटीर एवं लघु उद्योगों की उपयोगिता/आवश्यकता

15.4.2 कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए नीति

15.4.3 कुटीर एवं लघु उद्योगों की समस्याएँ

15.4.4 कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के सुझाव

15.5 मूलभूत और बड़े उद्योग

15.5.1 इस्पात तथा लोहा उद्योग

15.5.2 कोयला उद्योग

15.5.3 सीमेन्ट उद्योग

15.5.4 रसायन उद्योग

15.5.5 भारी इंजीनियरिंग उद्योग

15.5.6 चीनी़ उद्योग

15.5.7 कागज उद्योग

15.5.8 जूट उद्योग

15.5.9 सूती वस्त्र उद्योग

15.6 सारांश

15.7 परीक्षापयोगी प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे–

- औद्योगिक अर्थव्यवस्था क्या है।
- हस्तकला व कारखाना व्यवस्था।
- कुटीर एवं लघु उद्योग की उपयोगिता, नीति, समस्याएँ व सुझाव।
- मूलभूत तथा बड़े उद्योग।

15.1 प्रस्तावना

उद्योगों पर आश्रित व्यवस्था को औद्योगिक अर्थव्यवस्था से व्यक्त किया जाता है।

21वीं सदी के औद्योगिक अर्थव्यवस्था की सदी से भी व्यक्त किया जा रहा है। औद्योगिक अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उद्योगों को विकसित कर उसी पर गुजर बसर किया जाता है।

उद्योगों को अनेक भागों में बॉटा जाता है। घरेलू और कुटीर उद्योग धन्धे, लघु उद्योग धन्धे तथा बड़े और मूलभूत उद्योग धन्धे। कुटीर उद्योग धन्धों में स्थानीय उपलब्ध कच्चे माल से शारीरिक अथवा जैविकीय शक्ति प्रयोग से वस्तुओं का निर्माण कर उसे बाजार में बेचकर उससे आर्थिक लाभ प्राप्त किया जाता है। दस्तकारी द्वारा उत्पादित वस्तुएँ इस श्रेणी में आतीं हैं। औद्योगिक क्रान्ति के पहले अर्थव्यवस्था इसी स्तर पर थी।

लघु उद्योग धन्धों में भी अधिकांशतया स्थानीय कच्चे माल से वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। लघु उद्योग धन्धों में उत्पादन कार्य शारीरिक शक्ति के साथ–साथ कुछ मात्रा में कृत्रिम शक्ति का भी प्रयोग किया जाता है।

बड़े उद्योग धन्धों में उत्पादन कृत्रिम शक्ति से किया जाता हैं। कच्चे माल की प्राप्ति के लिए स्थानीय बाध्यता नहीं होती। कच्चा माल जहॉ भी उपलब्ध होता है उसे प्राप्त करके कृत्रिम शक्ति द्वारा वस्तुओं का निर्माण कर बाजार में बेचा जाता है। देशीय आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद अतिरिक्त उत्पादित वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तथा विदेशी मुद्रा प्राप्त किया जाता है।

15.2 हस्तकला स्तर

1760 ई. तक विश्व की औद्योगिक अर्थव्यवस्था हस्तकला स्तर में थी। हथौड़ों तथा मामूली कल पुर्जों के माध्यम से वस्तुओं का उत्पादन होता था। ये सभी कल पुर्जे शारीरिक शक्ति से चालित होते थे। कारीगर स्वयं कच्चे माल की व्यवस्था करके वस्तुओं को बनाता था और उसे स्वयं उपभेक्ता को बेचता था। वस्तु निर्माता अथवा

उत्पादनकर्ता और उपभोगकर्ता के बीच का संबंध प्रत्यक्ष एवं सहयोगात्मक होता था। कारीगर या श्रमिक की भूमिका उद्योगपति का भी होता था। एक कारीगर जो स्वयं स्वामी तथा पूँजीपति भी होता था, अपने लिए सभी औद्योगिक नीतियों को तय करता था। किसको साथ में काम पर लगाया जाय; कितने लोगों को लगाया जाय, कितना उत्पादन किया जाय; कहॉ पर उत्पादन कार्य किया जाय; कितना उत्पादन किया जाय; कार्य के घण्टे कितने होंगे आदि बातों का निर्धारण कारीगर स्वयं करता था। उदाहरण स्वरूप कोल्हू–बैल से सरसो का तेल निकालने के लिए आमतौर से परिवार के सभी लोग लगते थे। कभी–कभी पास पड़ोस के लोगों से भी मदद ली जाती थी। तेल लेने के लिए उपभोक्ता स्वयं कोल्हू के स्थान पर जाकर तेल खरीदता था। कभी–कभी यदि तेल बचा है तो उसे कारीगर या तेली बाजार ले जाकर बेचता था। इसी प्रकार जुलाहे जो करघे से कपड़ा बनाने का कार्य करते थे वहॉ भी परिवार के लोग, पास पड़ोस के लोग, रिश्तेदार आदि मिलकर सूत बनाने से लेकर कपड़ा बनाने का काम करते थे। सभी श्रमिकों के बीच आपसी संबंध प्रेमभाव का तथा सहयोगात्मक होता था। व्यक्तिगत नाम से सभी लोग जाने जाते थे। उत्पादित वस्तु अर्थात कपड़ा जैसे धोती, साड़ी, चद्दर, तौलिया आदि उपभोक्ता वहॉ स्वयं आकर खरीदते थे। यदि कोई कमी किसी कपड़े में मिली तो उसे वापस लाकर बदल लेते थे। यदि दाम पूरा नहीं है तो बाकी लगाकर उसे बाद में दे जाते थे। इस प्रकार का माहौल हस्तकला स्तर में उत्पादनकर्ता तथा उपभोक्ता के बीच होता था। कारीगर जो स्वयं मालिक भी होता था उसके तथा दूसरे कारीगरों (जो साथ काम करते थे) के बीच का संबंध अत्यन्त घनिष्ठ तथा व्यक्तिगत होता था। यही स्थिति उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच भी होती थी। इस व्यवस्था में श्रमिक उत्पादन का सबसे महत्वपूर्ण कारक माना जाता था। वही कच्चे माल का प्रकार, मात्रा, उत्पादन स्थान तथा उत्पादित वस्तु का मूल्य तय करता था।

15.3 कारखाना व्यवस्था

18वीं सदी के अनेक यान्त्रिक आविष्कारों ने औद्योगिक व्यवस्था को मूलभूत ढ़ंग से प्रभावित करना प्रारम्भ किया। वाष्प शक्ति का अविष्कार हुआ और इसका प्रयोग 1785 ई. में सूती और जूट मिलों को चलाने के लिए किया गया।

कारखाना व्यवस्था के उद्‌भव के साथ–साथ शारीरिक शक्ति के स्थान पर वाष्प शक्ति अर्थात कृत्रिम शक्ति का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। उत्पादन प्रणाली में कृत्रिम शक्ति का प्रयोग औद्योगिक क्रान्ति से संबोधित किया गया। औद्योगिक क्रान्ति ने परम्परागत औद्योगिक संबंधों को अधिक अंशों में प्रभावित करना प्रारम्भ किया। औद्योगिक क्रान्ति के प्रथम स्तर की विशेषता थी हाथ से चलाये जाने वाले हथौड़े या कलपूर्जो के स्थान पर कृत्रिम शक्ति चलित सरल/साधारण मशीनों का प्रयोग। वर्तमान के औद्योगिक क्रान्ति की विशेषता है साधारण मशीनों के स्थान पर जटिल तथा महॅगी यहॉ तक की स्वचालित मशीनों का प्रयोग। औद्योगिक राष्ट्र वह है जहॉ ऐसी मशीनों की संख्या बहुत अधिक हो।

औद्योगिक क्रान्ति के दो स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ते हैं –

1. उत्पादन की प्रक्रिया तथा विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन।
2. उत्पादित वस्तु तथा मशीनों को स्वामित्व के स्वभाव ओर प्रकार में परिवर्तन।

प्रथम प्रकार में कारखाना व्यवस्था और दूसरे प्रकार में कारपोरेशन व्यवस्था इसके उदाहरण हैं। यद्यपि ओद्योगिक क्रान्ति ने समाज में समृद्धता को बढ़ाया है; वहीं इसने सामाजिक समस्याओं को भी जन्म दिया है जिससे समाज प्रभावित हो रहा है।

15.3.1 श्रमिकों पर प्रभाव

कारखाना व्यवस्था ने उत्पादन प्रणाली के अनेक कारकों में सर्वाधिक श्रमिकों को प्रभावित किया है। कारखाना व्यवस्था ने श्रमिकों में जो कारीगरी का भाव होता था वह लुप्त हो रहा है अब वह अपने द्वारा उत्पादित वस्तु पर कारीगरी का भाव नहीं छोड़ना चाहता क्योंकि वह अब अपने को एक मशीन का मात्र सहायक मानता हैं। पहले श्रमिक/कारीगर जब किसी वस्तु का निर्माण करता था तो उसमें वह अपने कारीगरी के भाव को डालना नहीं भूलता था। ढ़ाके का मलमल, आगरा का ताजमहल, अजंता, एलोरा के गुफाओं की चित्रकारी, नक्कासी कारीगरी के भाव को प्रदर्शित करती है। इसीलिए आज भी इन्हे विश्व में अद्वितीय माना जाता हैं। ऐसी चीजों के निर्माण में कारीगर को संतोष भी प्राप्त होता था। आज चूँकि कारीगर यह जानता है कि वह मशीन का एक सहायक मात्र है अतः उसकी कारीगरी का भाव मूल्यांकित नहीं होगा। आज जब मशीन से वस्तुओं का निर्माण हो रहा है ओर वस्तु का समस्त भाग एक स्थान पर निर्मित नहीं होता। एक भाग एक जगह बनता है तो दूसरा भाग दूसरे जगह पर। ऐसी अवस्था में कारीगर अदृष्य सा रहता है। यदि अच्छी वस्तु बन गयी तो श्रेय मशीन को जायेगा और यदि कोई खराबी आ गयी तो इसका दोष भी मशीन को जायेगा। अतः कारीगर अब यह मानता है कि कारीगरी का भाव छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। अब निरंतर कारीगरों में यह डर बना रहता है कि कहीं उनके स्थान पर किसी अन्य कारीगर की नियुक्ति न हो जाय। उसे यह भी डर बना रहता है कि उसका स्थान कोई मशीन न ले ले। हस्तकला स्तर में उत्पादन प्रणाली में सबसे महत्वपूर्ण कारक श्रमिक होता था। मानवीय कारक की महत्ता सर्वाधिक थी। कारखाना व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण कारक पूँजी हो गया है। अब यह नहीं पूछा जाता कि श्रमिक कितना कुशल है; अधिक से अधिक कितने घंटे काम कर सकता है बल्कि उसके स्थान पर यह देखा जाता है कि मशीन कितनी टिकाऊ है। वह अधिक से अधिक कितना उत्पादन कर सकती है। पिछले दो शाब्दियों में जितनी बड़ी बड़ी मशीनों का निर्माण हुआ हैं उसके बारे में पिछले 20–30 वर्षों में भी नहीं सोचा गया।

15.3.2 सामाजिक संबंधों पर प्रभाव

मनुष्य और मशीन तथा मनुष्य मनुष्य के बीच आपसी संबंध अधिक जटिल, अनिश्चित तथा तनावपूर्ण होता जा रहा है। बड़ी मशीनों ने आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है जिसके लिए अब मिल प्रवन्धकों को कुछ समय के लिए कारखानों को बन्द करना पड़ता है कारखानों को बन्द रखने से बेरोजगारी की समस्या अवतरित हो रही है। अपना अपना सामान बेचने के उद्देश्य से विश्व बाजार में गला काट प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गयी है।

हस्तकला अर्थव्यवस्था में श्रमिक, उद्योगपति तथा उपभोक्ता के बीच संबंध वैयक्तिक होता था परन्तु निगम नियंत्रण विधि के कारण अब इन कारकों के बीच अर्थात श्रम, पूँजी और उपभोक्ता के बीच प्रतिस्पर्द्धात्मक संबंध हो गया। अब श्रमिकों और मशीनों की स्थिति एक जैसी हो गयी। उद्योगपति, श्रमिकों और उपभोक्ताओं पर

ध्यान नहीं देता वह अपनी पूँजी और मशीन के बारे में अधिक चिन्तित दिखता है। वह लाभ कमाने की बात अधिक करता है। समाज में उसके मान मर्यादा की प्रतिष्ठा गिरेगी इसकी चिन्ता नहीं करता। औद्योगिकरण के कारण धनी अधिक सम्पन्न हो रहे हैं और गरीबों की गरीबी बढ़ रही है। अब उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच संबंध द्वैतीयक होता जा रहा है।

15.4 कुटीर एवं लघु उद्योग

जैसा कि ऊपर कहा गया है कुटीर उद्योग धन्धे परिवार और पड़ोस के लोगों द्वारा मिलकर किया जाता हैं। उसी कच्चे माल का प्रयोग उत्पादित वस्तु के लिए किया जाता है जो स्थानीय आधार पर उपलब्ध है। कुटीर उद्योगों में उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिसकी मॉग परम्परागत आधार पर अधिक है। कुटीर उद्योगों में पूँजी का विनियोग बहुत कम होता है। कुटीर उद्योग दो प्रकार के होते हैं

(1) ग्रामीण कुटीर उद्योग

(2) नगरीय कुटीर उद्योग

ग्रामीण कुटीर उद्योग भी दो भागों में विभक्त है।

(1) कृषि संबंधित ग्रामीण कुटीर उद्योग

(2) कारीगरी या कौशल आधारित कुटीर उद्योग

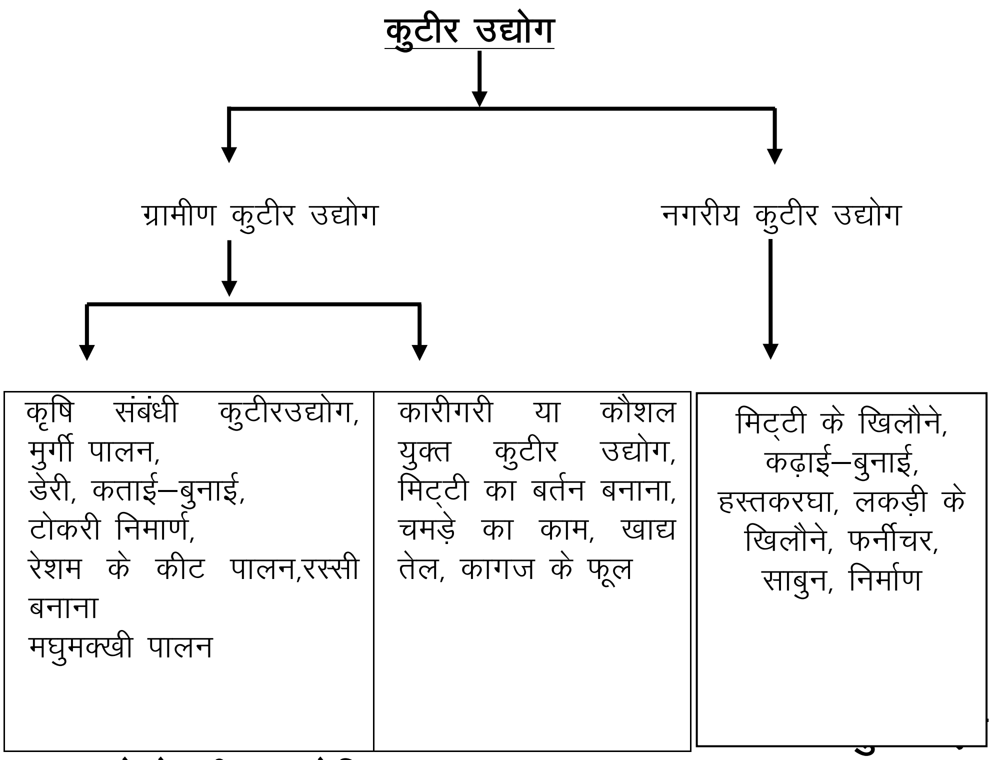

लघु उद्योगों की उपयोगिता

महात्मागॉधी कहते थे कि भारतवर्ष का विकास एवं कल्याण उसके कुटीर उद्योगों में नीहित है।

योजना आयोग ने भी मत व्यक्त किया है कि लघु एवं कुटीर उद्योग हमारी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग हैं।

1. अर्थव्यवस्था के सशक्तिकरण में समर्थन।
2. रोजगार के अवसर प्रदान करने में समर्थ।
3. ग्रामीणों के क्रय शक्ति में वृद्धि।
4. कला और संस्कृति का विकास।
5. व्यक्तित्व का विकास।
6. कृषि अर्थव्यवस्था का पूरक।
7. औद्योगिक विकेन्द्रीकरण में सहायक।
8. विशेषीकरण की प्राप्ति।
9. परंपरागत कला कौशल की निरंतरता।
10. निर्यात में सहायक।
11. स्थानीय कच्चे माल का सदुपयोग।

भारत में लघु एवं कुटीर उद्योगों का योगदान राष्ट्रीय उत्पादन में 13 प्रतिशत; कुल औद्योगिक उत्पादन में 35 प्रतिशत; रोजगार में 32 प्रतिशत और देश के निर्यात में 25 प्रतिशत है। उत्पादन हेतु वस्तुओं

15.4.2 कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए

1. की संख्या – कुटीर एवं लघु उद्योगों को सुरक्षा देने हेतु वस्तुओं की संख्या बढ़ाई गयी।
2. कुटीर एवं लघु उद्योगों की सुरक्षा हेतु कानून।
3. जिला उद्योग केन्द्रों की स्थापना।
4. खादी ग्रामोद्योग का विकास।
5. हस्तकरघा उद्योग का विकास।
6. लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना।
7. नए–नए उत्पादों को बढ़ावा।

<u>सरकारी प्रयास</u> –

1. अखिल भारतीय कुटीर उद्योग बोर्ड 1948.
2. अखिल भारतीय खादी ग्रामोद्योग बोर्ड 1952.

3. अखिल भारतीय हस्तकला बोर्ड 1952.
4. अखिल भारतीय हस्त करघा बोर्ड 1954.
5. लघु उद्योग बोर्ड 1954.
6. नारियल जटा जूट बोर्ड 1954.
7. राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम 1955.
8. भारतीय दस्तकारी विकास निगम 1958
9. भारतीय लघु उद्योग परिषद 1979
10. करों में छूट
11. विपणन सुविधाओं में वृद्धि।
12. राष्ट्रीय समता कोष की स्थापना।

15.4.3 कुटीर एवं लघु उद्योगों की समस्याएँ

1. धन की समस्या।
2. स्थानीय कच्चे माल की कमी।
3. उच्च प्रौद्योगिकी तथा तकनीक की समस्या।
4. बाजार की समस्या।
5. बड़े उद्योगों से प्रतिस्पर्द्धा।
6. बिजली आपूर्ति की समस्या।
7. सूचनाओं तथा सुझावों की कमी।
8. कुशल प्रवंधन की कमी।

15.4.4 कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के सुझाव

1. धन देने की व्यवस्था करना।
2. सहकारी समितियों का विकास ताकि महाजनों के चंगुल से बच सके।
3. उत्पादन के अलाभकारी तरीकों को छोड़कर लाभकारी तरीकों को अपनाना।
4. सुझाव प्रदान करने हेतु विशेषज्ञों की समिति का गठन।
5. मूलभूत उद्योगों के पूरक के रूप में कार्य करने की आवश्यकता।
6. प्रदर्शनों के द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योग धन्धों की सफलता का प्रदर्शन।
7. लोगों को प्रशिक्षण प्रदान करना।
8. उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार की व्यवस्था।

15.5 मूलभूत तथा बड़े उद्योग

प्रस्तावना – औद्योगीकरण से आज अभिप्राय बड़े और मूलभूत उद्योगों के विकास से लगाया जाता है। वैसे कृत्रिम शक्ति का प्रयोग सूती और जूट मिलों को चलाने में 1875 ई. अंग्रेजी शासनकाल में ही प्रारम्भ हो गया था परन्तु वास्तविक औद्योगीकरण दूसरी पंचवर्षीय योजना वर्ष 1956 ई. से प्रारम्भ हुआ। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य औद्योगीकरण तय किया गया जिसमें कहा गया कि नियोजन का लाभ तभी मिलेगा जब बड़े और मूलभूत उद्योग विकसित होंगे।

मूलभूत उद्योग – मूलभूत उद्योग से तात्पर्य ऐसे उद्योगों से है जिससे छोटे उद्योग विकसित होते है।

<u>मूलभूत उद्योगों में प्रमुख हैं</u>–

1. इस्पात तथा लौह उद्योग
2. कोयला उद्योग
3. सीमेन्ट उद्योग
4. भारी इंजीनियरिंग उद्योग
5. रसायनिक उद्योग
6. खाद उद्योग
7. कृत्रिम शक्ति तथा सौर उद्योग

<u>उपभोक्ता माल उद्योग</u>–

1. चीनी उद्योग
2. सूती वस्त्र उद्योग
3. जूट उद्योग
4. कागज उद्योग

15.5.1 इस्पात तथा लो़हा उद्योग

इस्पात और लोहा मूलभूत उद्योग इसलिए कहा जाता है क्योंकि प्रत्येक मशीन, कलपुर्जे के निमार्ण में इसका प्रयोग होता है। प्रत्येक मशीन का आधार इस्पात/लोहा होता हैं। आदिम समय में उत्पादन में प्रयुक्त हथौड़ा से लेकर आधुनिक युग में प्रयुक्त ऐटामिक संयंत्र तक के निर्माण में लोहा/स्टील का प्रयोग होता रहा है।

इस्पात/लोहा आर्थिक ढ़ाचे की रीढ़ के समान है। जैसे शरीर रीढ़ की हड्डी पर आश्रित है; यदि रीढ़ की हड्डी रोग ग्रसित हो जाय तो शरीर छिन्न–भिन्न हो जाता हैं व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है; उसी प्रकार इस्पात और लोहे का स्थान आर्थिक व्यवस्था की समृद्धता तथा निरंतरता के लिए है।

1907 ई. से जमशेद जी टाटा ने लोहा एवं इस्पात कारखाना बिहार के सिंहभूमि जिले के सांकची नामक स्थान पर "टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी" (टिस्को) के नाम से खोला। 1918 ई. में आसनसोल (पश्चिमी बंगाल) के पास हीरापुर स्थान पर टाटा ने इंडियन आयरन एण्ड स्टील कंपनी और 1923 ई. में कर्नाटक में भद्रावती नामक स्थान पर "मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स" के नाम से कारखाना प्रारम्भ किया।

1956 ई. में तीन बड़े स्टील उद्योग राउरकेला (जर्मनी के सहयोग से); भिलाई (रूस के सहयोग से) तथा दुर्गापुर (ब्रिटेन के सहयोग से) की स्थापना की गयी। 1966 ई. में बोकारों में रूस के सहयोग से एक स्टील का कारखाना खोला गया। बाद में विशाखापटनम में भी रूस के सहयोग से स्टील का कारखाना बनाया गया।

सरकारी क्षेत्र के स्टील कारखानों का प्रवंधन "भारत इस्पात प्राधिकरण लिमिटेड" (सेल) के द्वारा किया जाता हैं। सभी पंचवर्षीय योजनाओं में इस मूलभूत उद्योग को विकसित करने का प्रयास किया जाता रहा है।

लोहे, स्टील उद्योग के समक्ष समस्याएँ –

1. श्रेष्ठ "आयरन ओर" की कमी।
2. कोयले की कमी।
3. यातायात तथा परिवहन की कमी।
4. उत्पादन क्षमता की कमी।
5. श्रम समस्याएँ
6. पूँजी की मात्रा में वृद्धि।
7. दूसरे देशों की तुलना में भारत में स्टील का मूल्य कम है।
8. उच्चतर प्रौद्योगिकी की कमी।
9. श्रेष्ठ प्रवंधन की समस्या।
10. निर्यात संबंधी समस्या।

लोहे/स्टील उद्योग को बढ़ाने का सुझाव

1. "आयरन ओर" के भंडारन का पता लगाना।
2. अधिक से अधिक "आयरन ओर" का खदान से निष्कासन।
3. "ट्रान्सपोर्टेशन" की सुविधा में वृद्धि।
4. श्रमिक समस्याओं का समाधान।
5. नयी–नयी प्रौद्योगिकी का प्रयोग।
6. उच्च प्रवंधन की व्यवस्था।
7. विदेशी बाजारों की खोज।
8. निर्यात की व्यवस्था तथा बढ़ावा।

15.5.2 कोयला उद्योग

कोयला प्राचीनतम कृत्रिम शक्ति का श्रोत है। आज भी विश्व के अधिकांश देशों में शक्ति के श्रोत के रूप में इसका प्रयोग हो रहा हैं।

1814 ई. में रानीगंज में पहली कोयले की खान खोदी गयी। उसके पश्चात आज तक सैकड़ो कोयले की खाने शक्ति की आवश्यकता की पूर्ति कर रही है। बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश, मध्य प्रदेश से 90 प्रतिशत कोयला प्राप्त होता है। असम तमिलनाडु, कच्छ, राजस्थान से बाकी 10 प्रतिशत कोयला प्राप्त होता है।

कोयला उद्योग से संबंधित समस्याएँ–

1. श्रेष्ठ प्रौद्योगिकी के प्रयोग की कमी।
2. उद्योग का परम्परागत स्वरूप।
3. आधुनिकीकरण की कमी।
4. परिवहन की कमजोर व्यवस्था।
5. बढ़ती मजदूरी।
6. अच्छे स्तर के कोयले की कमी।
7. कोल भंडारण का अनियोजित प्रयोग।
8. निर्यात के उपर्युक्त नहीं।

कोल उद्योग में सुधार के उपाय –

1. कोल इंडिया लिमिटेड (सिल) के कार्यविधि में सुधार करना।
2. आवश्यकतानुसार उत्पादन को बढ़ाना।
3. उद्योग में पारदर्शिता बढ़ाना।
4. आधुनिकतम प्रौद्योगिकी का खदानों में प्रयोग।
5. खदानों की दुर्घटनाओं में कमी लाना।
6. कोल उद्योग में बढ़ोत्तरी हेतु अनुसंधान कार्य में बढ़ावा।

15.5.3 सीमेन्ट उद्योग

किसी भी उद्योग को प्रारम्भ करने के पहले कारखाना भवन आवश्यक होता है। फैक्ट्री निर्माण के लिए सीमेन्ट एक आवश्यक कारक है।

सीमेन्ट का पहला कारखाना 1904 ई. में मद्रास (तमिलनाडु) साउथ इंडिया इंडस्ट्रियल लिमिटेड के नाम से प्रारम्भ हुआ। 1952 ई. में "इंडियन सीमेन्ट मैन्यूफैक्चरिंग एशेशिएशन" की स्थापना हुई। कांक्रीट एशेशिएशन ऑफ इंडिया और सीमेन्ट मार्केटिंग कंपनी के द्वारा इस उद्योग को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। ए.

सी. सी. तथा डालमियॉ इन दोनो कंपनियों के माध्यम से सीमेन्ट उद्योग को बढ़ावा मिल रहा है। **औद्योगिक अर्थव्यवस्था**

उद्योग की समस्याएँ–

1. कोयले की समस्या।
2. श्रमिकों की समस्या
3. कृत्रिम शक्ति की कमी के कारण सीमेन्ट का कम उत्पादन।
4. परिवहन की समस्या।
5. उत्पादन की परंपरागत विधि।
6. कुशल प्रशासन की कमी।

समस्या समाधान का सुझाव–

1. कच्चे माल की उपलब्धता।
2. उच्च तकनीक का प्रयोग।
3. शक्ति की समुचित व्यवस्था।
4. परिवहन की सुविधाएँ।
5. आधुनिकीकरण का प्रयोग।
6. निर्यात की कमी।

15.5.4 रासायनिक उद्योग

रासायनिक उद्योग में निम्नलिखित वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता हैं–

1. औषधियॉ
2. रसायन
3. रसायन खाद
4. पेट्रो–केमिकल्स
5. पेन्ट, वार्निश आदि।

समस्याएँ –

1. कच्चे माल की कमी।
2. विदेशों से प्रतियोगिता।
3. अच्छे विकसित मशीनों की कमी।
4. गुणवत्ता की कमी।
5. निर्यात में कमी।

<u>समस्या समाधान का सुझाव</u>–

1. कच्चे माल की आपूर्ति।
2. प्रतिस्पर्द्धा में सफलता।
3. विकसित यांत्रिकी।
4. अनुसंधान में बढ़ोत्तरी।
5. निर्यात की उचित व्यवस्था।

15.5.5 भारी इंजीनियरिंग उद्योग

इस उद्योग में चीनी, जूट, कागज आदि उद्योगों के मशीने बनाने वाले कारखानें, डीजल इंजन, रेलवे वैगन, शक्ति चलित पंप, रोड रोलर बनाने वाले कारखाने, मोटर कार आदि बनाने वाले कारखाने आदि सम्मिलित किये जाते हैं।

15.5.6 चीनी उद्योग

भारतवर्ष चीनी उत्पादन में विश्व का दूसरा सबसे बड़ा देश हैं। गन्ने की उपज यहॉ विश्व में सर्वाधिक होता है। आधुनिक चीनी मिलों का प्रारम्भ 1900 ई. में हुआ। वैसे खंडसारी चीनी प्राचीन काल से ही बन रही है। किसानों के लिए गन्ना व्यवसायिक फसल है। इधर के वर्षों में इस उद्योग का विकास वैसा नहीं हो रहा है जैसा होना चाहिए।

15.5.7 कागज उद्योग

1870 ई. में कलकत्ता के हुगली नदी के तट पर पहला कागज का कारखाना प्रारम्भ हुआ।

आज के युग में कागज की मॉग बढ़ी है। जैसे–जैसे सभ्यता बढ़ेगी; ज्ञान के स्थानान्तरण के लिए कागज की आवश्यकता बढ़ेगी। इधर के वर्षों में इस उद्योग का तीव्र गति से विकास हुआ है

15.5.8 जूट उद्योग

1855 ई. में पहली जूट मिल कलकत्ता के पास रिशरा नामक स्थान पर अंग्रेज व्यापारी जार्ज आर्कलैन्ड तथा बंगाली सुन्दर सेन ने मिलकर स्थापित किया। आज जूट उद्योग भारत का एक विकसित उद्योग है।

15.5.9 सूती वस्त्र उद्योग

भारत का यह प्राचीनतम उद्योग है। ढ़ाके का मलमल विश्व में विख्यात रहा है। पहला सूती मिल 1818 ई. में कलकत्ता के पास घुसरी नामक स्थान में प्रारम्भ

हुआ। इसके पश्चात बम्बई तथा अहमदावाद में सूती मिलें स्थापित हुई। इसके पश्चात शोलापुर, नागपुर, मद्रास, कानपुर, इन्दौर में सूती मिलें स्थापित हुई।

भारत वर्ष का न केवल यह प्राचीन उद्योग है अपितु इससे विदेशी मुद्रा मिलती रही है। इस उद्योग को सहारा देकर आगे बढ़ाने की आवश्यकता है।

15.6 सारांश

उद्योगों पर आश्रित व्यवस्था को औद्योगिक अर्थव्यवस्था से व्यक्त किया जाता है। उद्योगों को घरेलू, कुटीर, लघु, तथा बड़े और मूलभूत उद्योग धन्धों में बॉटा जा सकता है। उद्योग धन्धों में कच्चे माल के साथ शारीरिक शक्ति और कृत्रिम शक्ति का प्रयोग किया जाता है जिससे जो उत्पादन होता है उसे बाजार में बेचा जाता है, निर्यात किया जाता है व देशी व विदेशी मुद्राएँ प्राप्त किया जाता है। प्राचीन काल में उत्पादन का माध्यम हस्तकला ही था। जिसका संचालन शारीरिक शक्ति के माध्यम से होता था। इस व्यवस्था में कारीगर या श्रमिक स्वयं उत्पादन करके बेचता था उसके सहयोगियों से संबंध घनिष्ठ व व्यक्तिगत होते थे वे अपने काम का समय, घण्टा व उत्पादन स्तर स्वयं निर्धारित करते थे। 18वीं सदी में औद्योगीकरण के कारण अर्थव्यवस्था व उत्पादन में चमत्कारी परिवर्तन हुआ। मशीनों के अविष्कार से जहॉ उत्पादन में वृद्धि हुई, वहीं कम श्रम शक्ति में कार्यों का संचालन होने लगा।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण कारखाना व्यवस्था लागू हो सका। इस व्यवस्था ने जहॉ श्रमिकों के कार्य कम किया है वहीं उनकी कला तथा रूचि में भी गिरावट आयी है। आज मशीनों के युग में श्रमिकों की योग्यता को नहीं देखा जाता है उसके स्थान पर मशीनों को देख जाता है। इस व्यवस्था के कारण श्रमिक व पूॅजीपतियों के सामाजिक संबंधों पर प्रभाव पड़ा है। अब उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच संबंध द्वैतीयक होता जा रहा है।

कुटीर एवं लघु उद्योग में ग्रामीण कुटीर उद्योग एवं नगरीय कुटीर उद्योगों के माध्यम से व्यक्ति कम पूॅजी के विनियोग से अधिक व कलात्मक उत्पादन वाली वस्तुएँ तैयार करता है। इसमें कारीगर अपने घर पर ही उत्पादित वस्तुओं को तैयार कर सकता है। यह उनमें व्यक्तित्व विकास व अर्थव्यवस्था के सशक्तिकरण में योगदान देता है। सरकार भी इन उद्योगों को बढ़ाने में सरकारी मदद करती है। कुटीर तथा लघु उद्योगों की प्रमुख समस्याओं में धन की समस्या, बिजली समस्या, कच्चे माल की कमी आदि प्रमुख है। सरकार द्वारा धन की व्यवस्था, उचित प्रशिक्षण तथा उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार की व्यवस्था आदि से कुटीर और लघु उद्योगों को बढ़ावा मिलेगा।

औद्योगीकरण से आज अभिप्राय बड़े या मूलभूत उद्योगों के विकास से लगाया जाता हैं। मूलभूत उद्योग से तात्पर्य ऐसे उद्योग से है जिससे छोटे उद्योग विकसित होते हैं। जैसे – इस्पात तथा लौह उद्योग, कोयला उद्योग, सीमेन्ट उद्योग, रासायनिक उद्योग, खाद उद्योग, कृत्रिम शक्ति तथा सौर उद्योग आदि।

15.7 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 औद्योगिक अर्थव्यवस्था को परिभाषित करके उसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 2 औद्योगीकरण को परिभाषित करके उसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 3 भारत के प्रमुख उद्योग कौन–कौन से हैं उसका उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 4 कारखाना व्यवस्था का क्या अभिप्राय है? उसके प्रभावों का उल्लेख कीजिए

प्रश्न 5 21वीं शताब्दी में उद्योगों की प्रधानता पर लेख लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 भारत में औद्योगिक क्रान्ति कब हुई?

(क) 1951 (ख) 1956

(ग) 1966 (घ) 1970

प्रश्न 2 किस पंचवर्षीय योजना में औद्योगीकरण मुख्य उद्देश्य रखा गया?

(क) पहली (ख) दूसरी

(ग) तीसरी (घ) चौथी

प्रश्न 3 मूलभूत उद्योग कौन है?

(क) कृषि (ख) व्यापार

(ग) इस्पात/लोहा (घ) टी. वी.

उत्तर– 1– (ख) 2– (ख) 3– (ग)

इकाई–16

उत्तर औद्योगिक सेवा अर्थव्यवस्था

<u>**इकाई की रूपरेखा–**</u>

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 भारत के सेवा क्षेत्र में तेज वृद्धि का कारण

16.3 सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति

16.3.1 भारत में सूचना प्रौद्योगिकी नीति

16.3.2 सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000

16.4 इलेक्ट्रानिक मेल (ई–मेल)

16.5 इलेक्ट्रानिक कामर्स

16.6 इंटरनेट

16.7 कन्वर्जेन्स

16.8 सूचना प्रौद्योगिकी सेवा का प्रभाव

16.9 सारांश

16.10 परीक्षापयोगी प्रश्न

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम जानेंगे

- भारत के सेवा क्षेत्र में तेज वृद्धि का कारण
- सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति
- इलेक्ट्रानिक मेल (ई–मेल)
- इलेक्ट्रानिक कामर्स क्या होता है?
- इंटरनेट क्या है?
- कन्वर्जेन्स किसे कहते है?

16.1 प्रस्तावना

अर्थव्यवस्था का क्रमिक विकास कृषि अर्थव्यवस्था से औद्योगिक अर्थव्यवस्था और अन्त में उत्तर औद्योगिक सेवा अर्थव्यवस्था से किया जा रहा है। कृषि की महत्ता के स्थान पर उद्योग की महत्ता और उद्योग के स्थान पर अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र की महत्ता की बात की जा रही हैं। विकास प्रक्रिया में सेवा क्षेत्र का प्रभुत्व विकास के तीसरे चरण से जुड़ा है। भारत में आर्थिक वृद्धि के पीछे सेवा क्षेत्र की गत्यात्मकता को बताया जाता है क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में योगदान पिछले तीन दशकों में एक जैसा स्थिर बना हुआ है। सेवा क्षेत्र को अब भारत के सकल घरेलू उत्पाद में भागीदारी लगभग 57 प्रतिशत है तथा पिछले 15 वर्षों में भारत की आर्थिक वृद्धि में सेवा क्षेत्र का योगदान 60 प्रतिशत से अधिक का है। आर्थिक विकास के तीन चरण है

- कृषि प्रधान
- उद्योग प्रधान
- सेवा प्रधान

विचारकों का मत है कि सेवा निर्देशित विकास पथ धारणीय बना रहे इसके लिए आवश्यक है कि कृषि क्षेत्र तथा औद्योगिक क्षेत्र भी तेजी से प्रगति करे। 2002–2003 के बाद के वर्षों में सेवा क्षेत्र का विकास और तेजी से हुआ। दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–2007) की अवधि में सेवा क्षेत्र में 9.3 प्रतिशत की तेज वृद्धि हुई। ग्यारहवीं योजना 2008–2009 वर्ष में सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत घटकर 6.7 प्रतिशत रह गया जिसका कारण विश्वव्यापी आर्थिक मंदी बतलायी जाती है परन्तु सेवा क्षेत्र में वृद्धि 9.7 प्रतिशत की दर से कायम रहा। 2008–2009 में औद्योगिक वृद्धि मात्र 3.9 प्रतिशत थी, वहीं कृषि क्षेत्र में वृद्धि मात्र 1.6 प्रतिशत रहा। 2008–2009 में सकल घरेलू उत्पाद में 6.7 प्रतिशत की दर से जो आर्थिक वृद्धि मिली उसका श्रेय सेवा क्षेत्र को जाता है।

16.2 भारत के सेवा क्षेत्र में तेज वृद्धि का

जिन कारणों से हाल के वर्षों में सेवाक्षेत्र में सराहनीय वृद्धि हुई है उसे अग्रलिखित भागों में रखा जाता है –

1. विच्छिन्नता (कुछ कार्यों को अन्य ऐजेन्सियों द्वारा करवाना)
2. मॉग पक्ष की ओर से वृद्धि के उत्प्रेरण।
3. नीति उदारीकरण।
4. प्रौद्योगिकी क्षेत्र में वृद्धि।
5. औद्योगिक व सेवाक्षेत्र में वृद्धि के लिए पारस्परिक निर्भरता।

किसी भी समाज की अर्थव्यवस्था जैसे–जैसे परिपक्व होती जाती है वैसे–वैसे वहॉ विभिन्न क्षेत्रों में विशेषीकरण भी बढ़ता जाता है। औद्योगिक इकाइयॉ जिन कार्यों

को स्वयं करती थीं उनमें से कुछ कार्य बाहर की इकाईयों द्वारा इसलिए करवाने लगती हैं क्योंकि कार्य पर लागत कम लगता है और औद्योगिक इकाई अधिक लाभ कमाने लगती है। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अनेक भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी इकाईयॉ इसी "आउट सोर्सिंग" प्रणाली के अन्तर्गत अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों के औद्योगिक इकाईयों का काम करती हैं। किसी एक देश में भी औद्योगिक इकाई जैसे–जैसे बड़ी होती जाती है वह अपना स्वयं का बहुत सा कार्य जैसे कम्पनी का लेखा–जोखा, सुरक्षा, कानूनी राय, विकास के लिए अनुसंधान आदि उन कम्पनियों से कराने लगती है जो इन क्षेत्रों में विशेषीकृत हैं। ऐसा करने से सफल घरेलू उत्पाद में वृद्धि न होने के दशा में भी सेवाक्षेत्र में वृद्धि होती रहती है।

यदि सेवाओं की मॉग निरंतर बढ़ती रहे तो उससे भी अर्थव्यवस्था सशक्त होती है। औद्योगिक और विदेशी व्यापार संबंधी नीतियों में उदारीकरण जिससे बैंकिग, बीमा, परिवहन तथा संचार आदि क्षेत्रों को निजी क्षेत्र के लिए खोलने से सेवाक्षेत्र मजबूत होता है। भारत के सेवा क्षेत्र में तेज वृद्धि का यह एक कारण है।

यदि प्रौद्योगिकी कल पुर्जे, मशीन के क्षेत्र में सुधार होता है तो उससे भी सेवाक्षेत्र लाभान्वित होता है। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में इंटरनेट का प्रयोग, दूरसंचार के क्षेत्र में सेल्यूलर फोन सेवायें तथा बैकिंग क्षेत्र में क्रेडिट कार्ड और ए.टी.एम. का प्रयोग भी सेवा क्षेत्र में वृद्धि का कारण है।

औद्योगिक वृद्धि का भी सेवाक्षेत्र में वृद्धि पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

16.3 सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति

भारतवर्ष के सेवा़ क्षेत्र के विकास में सूचना तथा सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति की महत्वपूर्ण भूमिका है। सूचना और संचार प्रौद्योगिकी (आई. सी. टी.) के अन्तर्गत माइक्रों इलेक्ट्रानिक्स, कम्प्यूटिंग (हार्डवेयर तथा साफ्टवेयर), दूर संचार तथा आप्टो इलेक्ट्रानिक्स, माइक्रो प्रोसेसर्स, सेमी कंडक्टर, फाइवर आप्टिक आदि आते हैं। भारतवर्ष में इधर विभिन्न प्रौद्योगिकीय कार्यों में हो रहे अनुसंधान कार्यों से ज्ञान के क्षेत्र में वृद्धि तथा जीवन में उसके सकारात्मक उपयोग की गतिविधियॉ बढ़ी है।

पहले सूचना का प्रसारण बहुत कम हो पाता था इसलिए वाह्य जगत की घटनाएॅ स्थानीय क्रिया कलापों को प्रभावित नहीं कर पाती थीं। हलकारों के माध्यम से , व्यक्ति को भेजकर संदेश पहॅुचाया जाता था। पक्षियों का सहारा लिया जाने लगा। कबूतर पत्रों को लेकर जाते थे और गन्तब्य तक पहॅुचाते थे। डाक तार विभाग खुला, छपाई की मशीने आयी; टेलीफोन, बेतार का तार आदि के प्रयोग से सूचना प्रसारण का क्षेत्र बढ़ा।

सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति का जन्म कम्प्यूटर और टेलीविजन से जुड़ा है। 20वीं सदी के प्रारम्भ से आधुनिक सूचना क्रान्ति का जन्म हुआ। अब पूरा विश्व एक वैश्विक गॉव सा हो गया है। जिस प्रकार एक गॉव में हर छोटी बड़ी चीज की जानकारी सबको हो जाती है, ठीक उसी प्रकार आज पूरे विश्व को हर किसी की जानकारी हो रही है। इस स्थिति का श्रेय सूचना प्रौद्यागिकी को जाता है।

आधुनिक सूचना क्रान्ति का श्रेय वैज्ञानिक आर्थर सी. क्लार्क की एक विज्ञान कथा "संचार उपग्रह" की कल्पना से प्रारम्भ होता है। यह सूचना क्रान्ति मानव और उसकी सृजन क्षमता का परिचायक है। इस सूचना क्रान्ति ने मानव के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को अधिक प्रभावित किया है। आर्थिक जगत में भी इसने औद्योगिक क्रान्ति के बाद दूसरी क्रान्ति की है। आज एक स्थान पर बैठे–बैठे विश्व की प्रत्येक

घटना की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। विश्व के किसी भी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में रखी हुई पुस्तक, पत्रिका या समाचार पत्र को देखा तथा पढ़ा जा सकता है। यह सभी सूचना क्रान्ति से संभव हो सका है।

आधुनिक सूचना क्रान्ति का जनक कम्प्यूटर है। आधुनिक सूचना क्रान्ति में ई–मेल, ई–कामर्स तथा इंटरनेट महत्वपूर्ण है। सूचना प्रौद्योगिकी एक वृहद अवधारणा है, जिसमें सूचना प्रक्रिया और उसके प्रबन्ध संबंधी पहलू सम्मिलित है। कम्प्यूटर (हार्डवेयर, साफ्टवेयर) इंटरनेट सूचना प्रणालियों का आधार है जिसका डिजाईन तैयार करने, उनको विकसित करने और उसके प्रबंधन या संचालन का कार्य सूचना प्रौद्योगिकी व्यवसायियों को जाता है। सूचना प्रौद्योगिकी ने दैनिक कार्यप्रणाली, रेलवे व विमानन आरक्षण, वीमा, टेलीफोन, मौसम संबंधी पूर्वानुमान, रेडियो, खगोलविद्या, आणविक, जीवविज्ञान, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य, कृषि, शिक्षा आदि क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात करके विशेषज्ञों को यह अनुमान लगाने पर विवश कर दिया है कि भविष्य में सूचना सेवा का वर्चस्व रहेगा। इलेक्ट्रानिक प्रशासन, कार्यालय के व्यवस्था को आधुनिक बनाना, अपराधों का पता लगाना, दूर चिकित्सा (टेलीमेडिसिन) आदि ऐसे क्षेत्र हैं जहॉ सूचना सेवा की प्रभावशाली भूमिका से महत्वपूर्ण उपलब्धियॉ प्राप्त की जा सकती हैं। संचार से तात्पर्य स्वयं के भावों, विचारों, संदेशों, सूचनाओं, उपलब्धियों को दूसरा तक शीघ्रातिशीघ्र प्रेषित करना। [01]

16.3.1 भारत में सूचना प्रौद्योगिकी नीति

1980 के दशक में भारत में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रगति संतोषजनक नहीं था। स्थिति को संतोषजनक बनाने के लिए फाइवर आप्टिक नेटवर्क, सेटकाम नेटवर्क और वायरलेस सूचना, संरचना ढ़ाचे की स्थापना में तेजी लाना ताकि स्थानीय इनफार्मेटिक्स इनफ्रास्टक्चर, राष्ट्रीय इनफार्मेटिक्स इनफ्रास्टक्चर, और ग्लोबल इनफार्मेटिक्स इनफ्रास्टक्चर, आदि को आपस में जोड़कर पूरे देश में इन्टरनेट, एक्स्ट्रानेट और इन्ट्रानेट का तुरन्त विकास हो सके।

इलेक्ट्रानिक लेन देन और व्यापार को बढ़ावा देने के लिए भारत सरकार ने सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 पारित किया। इस अधिनियम का उद्देश्य इलेक्ट्रानिक अनुबंधों को मान्यता देना, कम्प्यूटर अपराधों को रोकना, दस्तावेजों को इलेक्ट्रानिक रूप में भरना, डिजिटल हस्ताक्षर आदि। अब कागज आधारित साक्ष्यों के स्थान पर इलेक्ट्रानिक रिकार्डों को मान्यता दी जा रही है। इंटरनेट पर सुरक्षित वित्तीय लेन–देन किया जा सके, इसकी व्यवस्था की जा रही है।[02]

सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम के प्रमुख प्रावधानों में सम्मिलित था–

सन् 2008 तक निम्नलिखित उद्देश्य प्राप्त कर लिए जायेंगे।

1. सभी नागरिको के लिए तेजी से सूचना प्रौद्योगिकी की चेतनता विकसित करना।
2. सूचना प्रौद्योगिकी से साक्षरता, सरकारी नेटवर्क तथा आर्थिक गतिविधियों में विकास।
3. ग्रामीण क्षेत्रों में सूचना प्रौद्योगिकी का प्रसार।

4. दैनिक कार्यों जैसे – बैंक का लेन–देन, व्यापार, शिक्षा, दस्तावेजों का आदान–प्रदान, पुस्तकालय, सूचना आदि के लिए सामान्य लोगों को जागरूक एवं प्रशिक्षित करना।

5. विश्व स्तर के सूचना प्रौद्योगिकी के बराबर भारत की सूचना प्रौद्योगिकी विकसित करना।

16.4 इलेक्ट्रानिक मेल (ई–मेल)

इलेक्ट्रानिक मेल सेवा कम्प्यूटर आधारित "स्टोर एण्ड फारवर्ड" संदेश प्रणाली है, जिसमें सूचना भेजने वाले एवं सूचना पाने वाले दोनो का एक साथ उपस्थित रहना आवश्यक नहीं। यह सेवा डाटा संचार नेटवर्क के माध्यम से विभिन्न प्रकार के पत्रों का संचारण करती है। इस सेवा में कोई भी पत्र, स्मरण पत्र, टेंण्डर या विज्ञापन आदि टाईप कर उसे किसी भी व्यक्ति को उसके निर्धारित पते पर भेजा जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि पत्र भेजने तथा प्राप्त करने वाले दोनो नेटवर्क से जुड़े हों। उपयोगकर्ता को इसके लिए एक डाकबाक्स किराये पर लेना होता है तभी वह डाक प्राप्त कर सकता है या भेज सकता है। स्थानीय क्षेत्र नेटवर्क तथा विस्तृत क्षेत्र नेटवर्क द्वारा एक निश्चित दूरी तक डाक भेजी जा सकती है। ई–मेल एक तरफा पद्धति है। यह टेलीफोन की तरह दोनों ओर से वार्तालाप नहीं करा सकती है, लेकिन उससे भी तीव्र गति से सूचना मिलती है। ई–मेल की मुद्रित प्रति भी प्राप्त की जा सकती है। यह सेवा व्यस्त व्यक्तिओं के लिए अधिक उपयोगी है। यदि डाक प्राप्तकर्ता का कम्प्यूटर बंद हो तब भी यह डाक बाक्स में संग्रहित होता रहता है। सुविधानुसार कम्प्यूटर खोलने पर उसे डाक मिल जाती है तथा भेजने वाले व्यक्ति को भी सूचना प्राप्ति की जानकारी मिल जाती है। अब यह सुविधा हिन्दी में भी उपलब्ध है। ई–मेल भेजने के लिए ग्राफिक का तरीका भी अपनाया जा सकता है।[01]

16.5 इलेक्ट्रानिक कामर्स

मानव सभ्यता के साथ–साथ उसके वाणिज्य और व्यापार की गतिविधियाँ भी बढ़ती जा रही हैं। पहले व्यापार के लिए व्यक्ति को स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पड़ता था। परन्तु आज उसे स्वयं कहीं आने जाने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने घर बैठे–बैठे व्यापार संबंधी गतिविधियाँ कर सकता है। यह सुविधा इलेक्ट्रानिक्स कामर्स ने संभव किया है।

ई–कामर्स का अर्थ है, टेलीफोन, नेटवर्क या अन्य माध्यम से सेवाओं तथा उत्पादों के बारे में सूचनाओं की प्राप्ति तथा भुगतान की व्यवस्था।

सेवा क्षेत्र में ई–कामर्स एक सस्ती तथा शीघ्रता से अपेक्षाकृत अच्छी सेवा उपलब्ध कराती है। ई – कामर्स से सामान तथा सेवाओं की आन–लाईन खरीद और बिक्री की जाती है। इस सेवा क्षेत्र में छोटी बड़ी सभी वस्तुओं का क्रय विक्रय वेवसाइट उपलब्ध है। ई–मेल की तरह, ई–कामर्स की शुरूआत हुई है। यह सेवा रात दिन उपलब्ध रहती है और इसमें किसी भी व्यक्ति या ऐजेन्ट से संपर्क की आवश्यकता नहीं होती। ई–कामर्स के माध्यम से किये जाने वाले थोक व्यापार को मैक्रो–ई–कामर्स तथा फुटकर व्यापार को माइक्रो–ई–कामर्स कहा जाता है।

भारत में साफ्टवेयर संबंधी आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग की सर्वोच्च संस्था 'नेसकाम' ने ई–कामर्स के क्षेत्र में भारत की क्षमता का सही तरीके से प्रयोग करने के लिए भारत सरकार से मिलकर कार्य किया है। इन दोनों के सहयोग से ऐसे

प्रयास किए जा रहे हैं ताकि साफ्टवेयर क्षेत्र के तीन क्षेत्र (1) शिक्षा (2) उद्यामिता तथा (3) रोजगार का अर्थव्यवस्था में उपलब्ध साधनों का अधिकतम प्रयोग कर भारतीय अर्थव्यवस्था की मैद्रिक सामाजिक तथा शैक्षिक नीव को मजबूत किया जा सके।[01]

16.6 इंटरनेट

डा. विन्टन जी. सर्फ इंटरनेट के जन्मदाता हैं। यह विश्वव्यापी कम्प्यूटर नेटवर्क है जिसमें विश्व भर की विस्तृत सूचना एकत्र की जाती है। इंटरनेट का कनेक्शन रखने वाला व्यक्ति किसी भी समय किसी विषय पर तत्काल सूचना प्राप्त कर सकता है। इसपर इलेक्ट्रानिक अखबार पढ़े जा सकते हैं। शेयर बाजार पर नजर रखी जा सकती है। अपने उत्पाद तथा सेवाओं का विज्ञापन किया जा सकता है। पुस्तकालयों से आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त की जा सकतीं हैं। इंटरनेट नर कई समाचार पत्र और पत्रिकाएँ भी उपलब्ध है। भारत वर्ष में 1998 ई. से इंटरनेट सेवा निजी भागीदारी के लिए भी खोल दिया गया है।

विश्व के विभिन्न स्थानों पर स्थापित टेलीफोन लाइनों अथवा उपग्रहों की सहायता से एक दूसरे के साथ जुड़े कम्प्यूटरों का नेटवर्क ही इंटरनेट कहलाता है।

इंटरनेट विभिन्न नेटवर्कों का एकीकृत रूप है। इसकी एक विशेषता यह है कि इस समूह का कोई भी मालिक या इंचार्ज नहीं होता। इसमें सेंसरशिप नहीं है। इंटरनेट विधि में सम्पूर्ण सूचनाएँ कम्प्यूटरों में भरा रहता है जिसे तकनीकी भाषा में "वेवसर्वर" कहते हैं। ये सभी कम्प्यूटर एक दूसरे से जुड़े रहते हैं और सम्पूर्ण नेटवर्क को "वर्ड वाइड वेव" के नाम से जाना जाता हैं। इस पूरी विधि में प्रत्येक कम्प्यूटर की निहित जानकारी को "होम पेज" के नाम से पुकारा जाता है। यदि इस 'होम पेज' को एक पुस्तक माने तो वेबसाइट को पुस्तकों की आलमारी और 'वेब सर्वर' को पुस्तकालय की संज्ञा दी जा सकती है।[01]

16.7 कन्वर्जेन्स

सभी सहमत हैं कि सूचना प्रौद्योगिकी ने पूरे विश्व को एक कमरे की भांति बना दिया है। कन्वर्जेन्स का अभिप्राय है, टी. वी., इंटरनेट, टेलीफोन, फैक्स आदि सभी एक ही "केवुल कनेक्शन" से चले। इसे "आल इन वन" से व्यक्त किया जाता है। यह कन्वर्जेन्स सूचना सेवा की एक नवीनतम उपलब्धि है।

भारत में सूचना प्रौद्योगिकी, दूर संचार तथा प्रसारण क्षेत्रों के लिए लाइसेन्स, पंजीकरण तथा नियम संबंधी सभी निर्णय एक ही स्थान पर करने के लिए 'भारतीय संचार आयोग' (सी. सी. आई) के गठन हेतु कम्यूनिकेशन कन्वर्जेन्स विधेयक 2001 ई. में पारित किया गया है।

16.8 सूचना प्रौद्योगिकी सेवा का प्रभाव

सामाजिक संपर्कों का विकास हुआ।

1. दूरी की अवधारणा समाप्त हुई।

2. सहानुभूतिक कंपन अर्थात एक घटना पूरे विश्व को प्रभावित करती है।
3. नयी–नयी सूचनाओं की उपलब्धता।
4. सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन।
5. भौतिक सम्वृद्धता में वृद्धि।
6. वैज्ञानिक अनुसंधान और प्रसार को बढ़ावा।
7. वैज्ञानिकों और प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों की विश्वव्यापी गतिशीलता में वृद्धि।
8. उद्योगपतियों के अपने उत्पादों के प्रचार प्रसार की सुविधा में वृद्धि।
9. विभिन्न व्यवसायों से जुड़े लोगों का आपसी संपर्क तथा अन्तर सेवाएँ एक दूसरे को लाभान्वित कर सके।

16.9 सारांश

अर्थव्यवस्था का क्रमिक विकास कृषि अर्थव्यवस्था से औद्योगिक अर्थव्यवस्था और अन्त में उत्तर औद्योगिक सेवा अर्थव्यवस्था की ओर हो रहा है। आर्थिक विकास, कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्र की बढ़ती भागीदारी से प्रगति की ओर अग्रसर है। सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति के कारण हमारे ज्ञान की सीमा का विस्तार हुआ हैं। पूरे विश्व की दूरी को सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति ने काफी कम कर दिया है। संचार के माध्यम से स्वयं के भावों, विचारों, संदेशों, सूचनाओं व उपलब्धियों को दूसरों तक अतिशीघ्र पहुँचाया जाता है। भारत सरकार नें सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 पारित किया। इलेक्ट्रानिक मेल (इ–मेल) स्टोर एण्ड फारवर्ड संदेश प्रणाली है। इसमें दोनो का आमने सामने रहना आवश्यक नहीं। ई–कामर्स का अर्थ है, टेलीफोन, नेटवर्क या अन्य माध्यम से सेवाओं तथा उत्पादों के वारे में सूचनाओं की प्राप्ति तथा भुगतान की व्यवस्था। विश्व के विभिन्न स्थानों पर स्थापित टेलीफोन लाइनों अथवा उपग्रहों की सहायता से एक दूसरे के साथ जुड़े कम्प्यूटरों का नेटवर्क ही इंटरनेट कहलाता है।

सूचना प्रौद्योगिकी सेवा ने देश की प्रगति में अमूल्य योगदान दिया है।

16.10 परीक्षापयोगी प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 उत्तर औद्योगिक सेवा व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2 उत्तर औद्योगिक सेवा व्यवस्था की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 3 भारत में सेवा क्षेत्र में तीव्र वृद्धि के कारणों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 4 सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति पर एक लेख लिखिए।

प्रश्न 5 सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर सहित

प्रश्न 1 आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी के जनक कौन है?

(क) कम्प्यूटर (ख) टेलीफोन

(ग) बेतार का तार (घ) रेडियो

प्रश्न 2 सूचना क्रान्ति का श्रेय जाता है –

(क) आर्थर सी. क्लार्क (ख) यशपाल

(ग) साराभाई (घ) न्यूटन

प्रश्न 3 औद्योगिक सेवा अर्थव्यवस्था में अग्रणी है –

(क) लंका (ख) वर्मा

(ग) पाकिस्तान (घ) इण्डिया

उत्तर– 1– (क) 2– (क) 3– (घ)

Notes

Notes